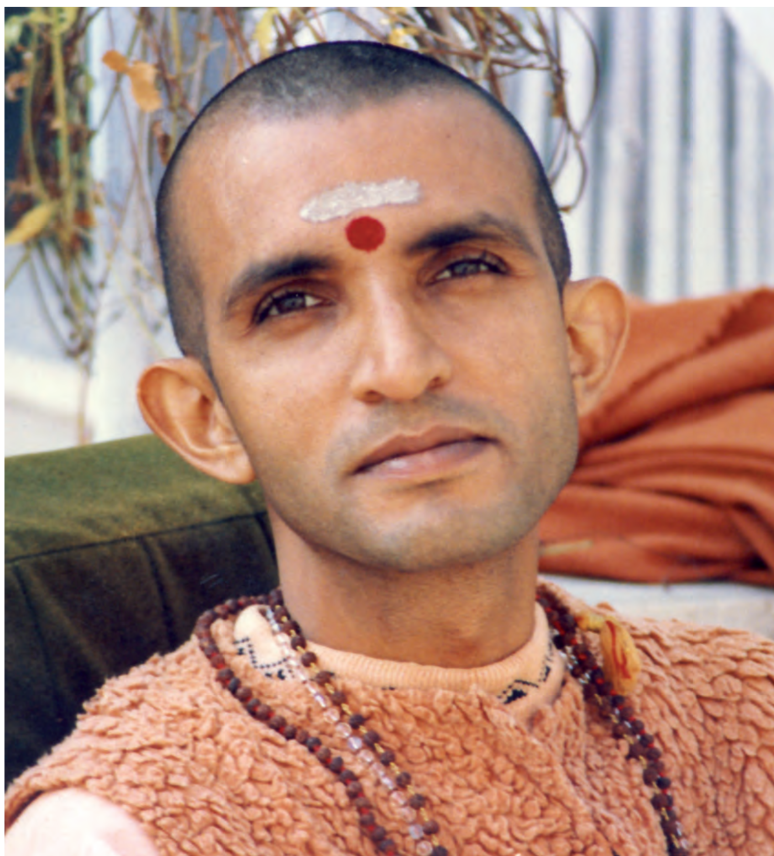
स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

योग साधना माला 1

(नर्मदा के तट पर)

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग साधना माला 1

(नर्मदा के तट पर)



WORLD YOGA CONVENTION 2013

GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA

23rd–27th October 2013

योग साधना माला 1

(नर्मदा के तट पर)

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

सन् 1993 एवं 1994 में सिद्धिदात्री नर्मदा के तट पर अवस्थित संस्कारधानी जबलपुर में आयोजित अखिल भारतीय योग सम्मेलनों के अवसर पर दिये सत्संगों का संकलन



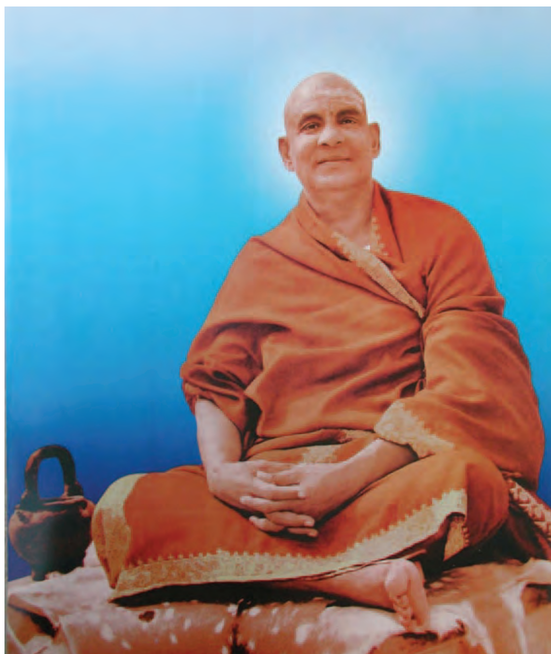
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बिहार योग विद्यालय द्वारा *प्रथम प्रकाशन 1995*
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *द्वितीय संशोधित संस्करण 2013*

ISBN: 978-93-81620-58-8

प्रकाशक एवं वितरक–योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक– थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड
नयी दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

पत्रकार वार्ता

स्वामीजी, कृपया इस योग सम्मेलन का पूरा विवरण दें।

हमारा मुख्य प्रयोजन है – योग विद्या का प्रचार करना; और हमने यह पाया है कि जो व्यक्ति किसी बीमारी से पीड़ित हैं, उन्हें योग के अभ्यास से राहत मिलती है। भारत में हमने दमा, मधुमेह, पेट की समस्याओं और हृदय-संस्थान के रोगों के निवारण के क्षेत्र में बहुत प्रयोग किये हैं, और सभी प्रकार की व्याधियों का समाधान योग में पाया गया है। विदेशों में भी इस पर बहुत अच्छे अनुसंधान हो रहे हैं। हमारे साथ यहाँ पर अभी ऑस्ट्रेलिया के एक डॉक्टर हैं, जो स्वयं पहले दमा के मरीज थे और चिकित्सा विज्ञान की किसी भी पद्धति से वे अपने दमा को ठीक नहीं कर पाये थे। अन्त में वे भारत आये। भारत में उन्होंने योगाभ्यास सीखा और उन्हें इतना लाभ हुआ कि वे अब योग विद्या के प्रचार में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अमेरिका, इंग्लैण्ड और सिंगापुर में अभी एड्स पर योग के प्रयोग चल रहे हैं। एड्स की रोकथाम में योग की क्या भूमिका हो सकती है, यह जानने का प्रयास किया जा रहा है। ऑस्ट्रेलिया में कैंसर की रोकथाम में शत-प्रतिशत सफलता मिली है। अत: इस प्रकार के जो परिणाम मिलते जा रहे हैं, उनसे यही विश्वास होता जा रहा है कि शरीर तथा मन की जो समस्याएँ हैं, उनका निराकरण किया जा सकता है, बशर्ते योग को केवल एक व्यायाम के रूप में न अपना कर, एक जीवन-विज्ञान और जीवन-पद्धति के रूप में अपनाया जाए। इसी दिशा में हम प्रयत्नशील हैं।

प्रत्येक मनुष्य का शारीरिक पक्ष बहुत प्रबल होता है; और उसके बाद दूसरा पक्ष होता है, मानसिक। आज हर व्यक्ति मानसिक तनाव और चिन्ता

से पीड़ित है। मानसिक प्रतिभा का विकास न होने के कारण परेशान है। अत: योग की ओर अभी जो लोग आकृष्ट हो रहे हैं, वे अपने जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की राहत की खोज में आ रहे हैं। लेकिन योग की सीमा यहीं तक नहीं होती। योग की उपयोगिता होती है मनुष्य के भीतर सकारात्मक संस्कारों का निर्माण करने में, ताकि वह अपने जीवन के उत्तरदायित्वों को समझकर सही भूमिका निभाए।

आधुनिक युग में आधुनिक विधि से इस प्राचीन योग विद्या को समझाने का प्रथम प्रयास परमहंस स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा किया गया था, जो हमारे गुरु हैं। वे स्वयं ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्द जी महाराज के शिष्य हैं। स्वामी शिवानन्द जी एक चिकित्सक थे, और मानव चिकित्सा का जो उद्देश्य, जो भावना उनके हृदय में थी, उसे उनसे ग्रहण कर अब तक कायम रखा गया है। मुंगेर में हमारा जो आश्रम है, वह एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है। वहाँ अनेक प्रकार के सत्र संचालित होते रहते हैं। योग शिक्षक प्रशिक्षण सत्र के माध्यम से योग शिक्षकों को तैयार किया जाता है, जो समाज के हर वर्ग के बीच मानव प्रतिभा के विकास के लिए प्रयास करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों के लिए, जेलों में कैदियों के भीतर अपराध-वृत्ति समाप्त करने के लिए, व्यवसाय में तनाव मुक्ति के लिए और रोगों के निदान में योग को प्रभावी पाया गया है। इनसे सम्बद्ध कार्यक्रम मुंगेर में नियमित रूप से संचालित होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त संन्यास प्रशिक्षण सत्र का संचालन भी किया जाता है।

हमारा यह प्रयास रहता है कि समाज में जो परिवर्तन हो रहे हैं, लोगों की जो मानसिकता बदल रही है, उन्हें जिन आवश्यकताओं का अनुभव हो रहा है, उसके अनुसार मनुष्य और समाज को एक दिशा देनी है। और यह कार्य होता है संन्यासियों को प्रशिक्षण देकर। साथ-ही-साथ वहाँ पर हमारा एक योग अनुसंधान केन्द्र भी है, जो सभी आधुनिक उपकरणों से युक्त है। उस अनुसंधान केन्द्र के माध्यम से अभी हम दमा और योग पर एक पंचवर्षीय शोध कर रहे हैं। यह एक अंतर्राष्ट्रीय शोध कार्यक्रम है।

योग इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य ही स्वयं को रोगी बनाता है। उसके जीवन में जब अनुशासन की कमी होती है, तब उसका शरीर और मन व्याधिग्रस्त हो जाते हैं, तनावग्रस्त हो जाते हैं, और उस कमी को वह अपने व्यावहारिक जीवन में अनुभव करने लगता है। अत: यह अव्यवस्था, जो हम अपने जीवन में अनुभव करते हैं, शरीर और मन में अनुभव करते हैं, बाहर से

नहीं आती। यह तो हमारे ही द्वारा निर्मित है। इसलिए जब एक अनुशासन को हम अपने जीवन में लागू कर लेते हैं, तब यह अव्यवस्था या अनुशासनहीनता स्वयं हमारे जीवन से दूर हो जाती है। एक छोटा-सा उदाहरण मैं आपको देता हूँ। मधुमेह का रोगी जानता है कि मुझे मिठाई नहीं खानी चाहिए, परन्तु कोई उसके सामने मिठाई रख दे, तो वह एक टुकड़ा अवश्य खा लेगा। किन्तु आरोग्य प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की अनुशासनहीनता को दूर करना आवश्यक है।

योग से किन-किन बीमारियों में लाभ पहुँचता है?

अभी तक हमें एक भी ऐसी बीमारी नहीं मिली है जिसमें योग से लाभ न पहुँचा हो।

आपने कैंसर और मधुमेह का उल्लेख किया, क्या ये पूर्णतया ठीक हो सकते हैं?

उड़ीसा में बुरला मेडिकल कॉलेज के सहयोग से मधुमेह पर एक प्रयोग किया गया था। उस प्रयोग के लिए लगभग डेढ़ सौ रोगियों का चयन किया गया था, जो इन्सुलिन का इंजेक्शन लिया करते थे। उन्होंने चालीस दिनों तक योगाभ्यास किया। हर सप्ताह उनके खून और पेशाब की जाँच होती थी।

इस प्रकार चालीस दिनों का जो प्रशिक्षण हुआ, उसके पश्चात् आज तक उन रोगियों को किसी प्रकार की दवाई या इंजेक्शन नहीं लेना पड़ा। वे पूर्णतया स्वस्थ हैं, और उनके लिए खाने-पीने का कोई परहेज भी नहीं है। चाहे चावल हो, चाहे मिठाई हो, चाहे आलू हो – वे सब-कुछ खा सकते हैं।

दमा और कैंसर के क्षेत्र में अभी प्रयोग चल रहे हैं। ऑस्ट्रेलिया में एक कैंसर रिसर्च फाउण्डेशन है। वहाँ के प्रमुख हैं डॉ. एन्सली मेयर। उन्होंने कैंसर के ऐसे छः मरीजों को लिया, जिन्हें सभी चिकित्सा पद्धतियों ने असाध्य रोगी घोषित कर दिया था। वे मरीज, जिन्हें कहा गया था कि अब हम तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते, और जिन्हें मात्र कुछ महीनों का जीवनकाल दिया गया था, वे आज भी जीवित हैं। इस घटना को हुए बाहर साल हो गये हैं। यदि आप उन्हें देखेंगे तो आपको विश्वास नहीं होगा कि ये व्यक्ति कभी कैंसर से पीड़ित थे।

भारत में योग के प्रति हमारा दूसरा दृष्टिकोण है, जो पाश्चात्य देशों में नहीं है। पाश्चात्य देशों में योग को एक विज्ञान के रूप में अपनाया गया है

जबकि भारत में हम सोचते हैं कि योग साधुओं की चीज है, जिसका अभ्यास करने से ईश्वर का दर्शन होता है। इसे एक विज्ञान के रूप में हम अभी तक नहीं अपना पाये हैं। हाँ, जो बुद्धिजीवी वर्ग है, वह इस दिशा में जागरूक हो रहा है कि योग एक जीवनशैली है। परन्तु अभी भारतीय मानसिकता में योग को परम्परा के रूप में ही मान्यता मिली है, विज्ञान के रूप में नहीं।

भारतीय जीवन-प्रणाली में योग को वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार नहीं किया गया, इसके लिए आप किसे दोषी समझते हैं?

इसके लिए कोई दोषी नहीं है।

संन्यासी या जो संसार का त्याग कर चुके हैं, उन व्यक्तियों के साथ योग को जोड़ा गया। इसका क्या कारण है? आम आदमी की दिनचर्या में योग क्यों नहीं सम्मिलित हो पाया?

अब इसके लिए तो इतिहास के पन्ने खोलने पड़ेंगे। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, क्योंकि हमारी भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार की आध्यात्मिक विचारधाराओं का समावेश होता रहा है, और अनेक विचारधाराओं के समावेश के पश्चात् हमने अपने लिए एक सुलभ मार्ग का चयन किया है। परन्तु योग ऐसी पद्धति है, जिसका सम्बन्ध न तो किसी कर्मकाण्ड से है, न उपासना से, और न ज्ञान से। यह एक व्यावहारिक प्रक्रिया है। समय के अनुसार योग को सही रूप से जानने वाले कम होते गये और गुप्त रूप में इसे साधुओं ने ही जीवित रखा।

क्या इसे दूसरे प्रकार से कहा जाए कि जिस प्रकार संस्कृति एक वर्ग विशेष तक सीमित थी, उसी प्रकार योग भी एक वर्ग विशेष तक ही रह गया?

हाँ।

आज के परिवेश में समाज और दुनिया साम्प्रदायिक उन्माद और हिंसा से अधिक त्रस्त हैं। वातावरण को सामान्य बनाने में योग किस प्रकार सहायक हो सकता है? समाज में पारस्परिक सद्भाव, समभाव और समन्वय किस प्रकार लाया जाए, जिससे कड़वाहट दूर हो? योग किस प्रकार अपनी रचनात्मक भूमिका निभा सकता है?

हमें तो विश्वास है कि योग एक बहुत अच्छी भूमिका निभा सकता है। केवल एक शर्त है – आप योग सीखिए, योगाभ्यास कीजिए, क्योंकि जब तक आप स्वयं अभ्यास नहीं करेंगे, तब तक आपको परिवर्तन महसूस नहीं होगा। यह मात्र एक बौद्धिक विचार न हो कि हम आपको कहें, और आप उसे मान लें। परिवर्तन आपके भीतर से शुरू होना चाहिए। आपकी विचारधारा को बदलना है, आपकी मानसिकता को बदलना है। जब तक आप अपने योगाभ्यास के लिए एक समय निर्धारित नहीं करेंगे, तब तक परिवर्तन संभव नहीं है। साथ-ही पूरे समुदाय को भी यही प्रयास करना पड़ेगा।

जब तक योगाभ्यासों के प्रति आस्था पैदा नहीं होती, तब तक आदमी उन्हें कैसे करेगा?

इसीलिए तो हम यहाँ आए हैं। चार दिन का जो यह कार्यक्रम है, उसमें यही प्रयास रहेगा कि योग के विभिन्न पक्षों को, योग के विभिन्न अंगों को हम आपके सामने रखें। जो पक्ष, जो अंग, जो विचार हम आपके सामने रखेंगे, यदि आप उनसे सहमत हों, तो हमें अपना सहयोग दें, क्योंकि आप जो बात कह रहे हैं, उसका तात्कालिक निदान तो है नहीं।

हमारी संस्कृति में हमेशा दया, प्रेम, करुणा, सद्भाव, सत्यवचन इत्यादि की शिक्षा दी गयी है। हमारी संस्कृति के नियम हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। हमारी संस्कृति के चार अंग हैं – अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। पर अब हुआ क्या है कि हमने अपनी नासमझी के कारण इन चार पहियों को अपने जीवन से अलग कर केवल दो पहियों को रखा है। गृहस्थ के जीवन में 'अर्थ' और 'काम' प्रधान रह गये हैं, त्यागियों के जीवन में 'धर्म' और 'मोक्ष'। परन्तु यह ठीक नहीं है। चारों का मिश्रण होना चाहिए। आपके जीवन में भी और हमारे जीवन में भी। जो विरक्त हैं, उन्हें तो किसी चीज से मतलब है नहीं। ठीक है, वे स्वतंत्र हैं। परन्तु फिर भी समन्वय चारों का होना है।

जो आधुनिक मानसिकता है, उसमें अर्थ और काम प्रधान हैं, धर्म और मोक्ष नहीं। योग एक माध्यम हो सकता है कि हम धर्म की व्यापकता को धारण करें। व्यापक धर्म की परिभाषा है – *'धारयते इति धर्मः'*। जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं, उसके ये चार अंग तथा दस नियम हैं।

एड्स के विषय में योग किस प्रकार सहायक हो सकता है?

अभी तो इस बारे में कुछ कहना बहुत जल्दबाजी होगी, क्योंकि पिछले वर्ष ही हमने यह कार्य शुरू किया है। लन्दन, न्यूयॉर्क और सिंगापुर के अस्पतालों में यह अनुसंधान-कार्य चल रहा है। और कुछ समय पहले इसकी एक रिपोर्ट भी छपी थी कि शिवाम्बु-कल्प, जिसे सामान्य भाषा में स्वमूत्र-पान कहते हैं, एड्स की रोकथाम में जबरदस्त भूमिका निभा रहा है। वह हमारे शरीर के संरक्षक-संस्थान की शक्ति बढ़ाने में सहायक है। स्वमूत्र-पान की यह प्रक्रिया पाँच-दस हजार साल पुरानी है।

जो चीज शरीर नहीं चाहता, उसे प्रकृति मूत्र के रूप में शरीर के बाहर करना चाहती है। तो हम उसे फिर से क्यों ग्रहण करें?

नहीं, ऐसी बात नहीं है। जब रोग होता है, तब जो चीज शरीर के अन्दर रहनी चाहिए, उसे भी शरीर बाहर फेंकता है। यही मुख्य सिद्धान्त है। जैसे, साधारणतया गुर्दे का कार्य पृथक्करण करना है। वह विषाक्त तत्त्वों को अलग करता है। परन्तु जब कोई रोग होता है, तब गुर्दा इतना सक्षम नहीं रहता; और जो चीज बाहर नहीं निकलनी चाहिए, वह भी निकलने लगती है।

स्वमूत्र-पान एड्स की रोकथाम में सहायक है?

हाँ, लेकिन साथ में आहार-संयम आवश्यक है। भोजन पर तो आपको थोड़ा नियंत्रण रखना पड़ेगा।

मूत्र का सेवन क्या किसी विशेष समय पर ही करना चाहिए, या किसी भी समय किया जा सकता है?

नहीं, उसके नियम होते हैं। उसका एक व्यापक शास्त्र है।

पर यह जरूर है कि एड्स को रोकने में स्वमूत्र-पान एक रचनात्मक या उपयोगी भूमिका निभा सकता है?

अवश्य।

ब्रह्मविद्या योग

योग न तो शरीर-विज्ञान है, न मनोविज्ञान है, न तो धर्म का विषय है, और न ही अध्यात्म-विज्ञान है। शरीर-विज्ञान इसलिए नहीं कि शरीर योग का ध्येय नहीं है। इसके आगे भी योग कुछ मानता है। योग मनोविज्ञान भी नहीं, क्योंकि आत्म-विकास के पथ पर चलने वाले के लिए आत्म-संयम की स्थिति एक अवस्था की प्राप्ति की द्योतक है। आत्म-संयम परिणाम है योग-मार्ग में चलने का, और जो व्यक्ति योग-मार्ग में नहीं चलता, उसको इस आत्म-संयम की प्राप्ति नहीं होती। अगर हम लोग इस यौगिक मनोविज्ञान को आत्म-संयम की एक स्थिति समझते हैं, तो वह विचारधारा ठीक नहीं है, क्योंकि आत्म-संयम भी योग का अन्तिम ध्येय नहीं है।

यह धर्म का विषय भी नहीं है। धर्म की परिभाषा होती है – मानवीय गुणों को अपने भीतर धारण करना। *'धारयते इति धर्मः'*। जब हम मानवीय गुणों को अपने भीतर धारण करते हैं तब वह धर्म-पालन कहलाता है। केवल एक सिद्धान्त, दर्शन या विचार के रूप में नहीं, बल्कि जब ये मानवीय गुण वास्तव में प्रकट होने लगते हैं, तब धर्म की परिभाषा पूर्ण होती है। योगाभ्यासों के द्वारा मानवीय गुणों को अपने भीतर जाग्रत करके और ज्वलंत रूप देकर हम उन गुणों के आधार पर विकास-मार्ग में आगे बढ़ते हैं। अतः योग की सीमा यहाँ तक भी नहीं है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि धर्म और अध्यात्म एक हैं, पर हम इस विचार से भी सहमत नहीं हैं। अध्यात्म की प्रक्रिया है – आत्म-चिन्तन, आत्म-परीक्षण। तत्पश्चात् जीवन के विभिन्न पहलुओं को पहचान कर विकास-मार्ग में आगे बढ़ा जाता है। अतः अध्यात्म-विज्ञान को भी हम योगमय जीवन का मात्र एक परिणाम मानते हैं, क्योंकि इसमें बोध की स्थिति रहती है।

ब्रह्मविद्या की परिभाषा

वास्तव में योग है क्या? यह 'ब्रह्मविद्या' है। 'ब्रह्मविद्या' शब्द को समझने के लिए सामान्य विचारधारा से ऊपर उठना होगा, इसके लिए 'ब्रह्म' तथा 'विद्या' शब्दों को समझना होगा।

ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'बृंह्' धातु से होती है, जिसका सम्बन्ध होता है विकास से। अत: ब्रह्म का अर्थ है, वह विकासशील चेतना जिसका विस्तार अनवरत होता रहता है, कभी बंद नहीं होता। विद्या शब्द की धातु है 'विद्', जिसका अर्थ होता है – जानना। इस जानने की प्रक्रिया का सम्बन्ध है ज्ञान अथवा बोध से। यह ज्ञान उस विकासशील चेतना की एक अभिव्यक्ति है, जिसका विस्तार हो रहा है। अनुभवों के नये-नये आयाम सामने आते रहते हैं, और इन आयामों से हम अनुभव ग्रहण करते हैं, जिससे चेतना का विस्तार होता है। अनुभव के द्वारा जिस चेतना का विस्तार अनवरत होता रहता है, उस चेतना को, उस बोध को कहते हैं – ब्रह्मविद्या।

संसार का जो ज्ञान है, उसे ब्रह्मविद्या की संज्ञा नहीं दी जाती। शास्त्रों में 'अपरा विद्या' तथा 'परा विद्या' की चर्चा होती है। संसार ब्रह्मविद्या के रूप में नहीं जाना जाता है। संसार की परिभाषा मालूम है न? *'संसरति इति संसार:'* – अर्थात् जो सरकता जाता है, जो रेंगता जाता है, उसे संसार कहते हैं। इस संसार में अनेक प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो तात्कालिक परिवेश से सम्बन्ध रखते हैं, जो कि परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील संसार में वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता। जब वास्तविकता का बोध होने लगे, तब हम संसार के नहीं रहते। और इसी अवस्था को, इसी ज्ञान को ब्रह्मविद्या की संज्ञा दी जाती है। वह ज्ञान या बोध जो क्षणिक न हो, जो तात्कालिक न हो, वरन् सनातन हो, विकासशील हो, जिसके प्रवाह में संपूर्ण विश्व बह रहा हो, वही योग है।

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए जब योग-मार्ग को हम लोग अपनाते हैं, तब विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरते हुए धीरे-धीरे शरीर, बुद्धि और चित्त को संतुलित बनाते हुए, हम एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं जहाँ पर द्वैत का अनुभव नहीं होता, मात्र अद्वैत की अनुभूति होती है। लेकिन इस अद्वैत की अनुभूति को बौद्धिक स्तर पर नहीं समझा जा सकता। यदि बौद्धिक स्तर पर समझने का प्रयास करोगे तो हार जाओगे। एक उदाहरण देते हैं।

एक साधक गुरु के पास जाता है और कहता है कि मुझे वह ब्रह्म-ज्ञान दीजिए, जिससे मैं अपने और ईश्वर में एकत्व का अनुभव कर सकूँ। गुरु कहते हैं, 'तुम तैयार नहीं हो।' शिष्य हठ करता है कि आप कैसे जानते हैं कि मैं तैयार नहीं हूँ। मुझे देकर तो देखिए। गुरु कहते हैं, 'ठीक है बेटा, तुम्हारा हठ है तो तुम जानना, पर बाद में मुझे गाली मत देना।' और उसे एक मंत्र की दीक्षा देते हैं, *'अहं ब्रह्मास्मि।'* और यह मंत्र देकर गुरु चेले से कहते हैं कि तुम चराचर जगत् में इसी भाव को रखो कि सब-कुछ ब्रह्ममय है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अगर एक वृक्ष को देखते हो, तो उसमें भी उसी अद्वितीय ईश्वरीय सत्ता को देखना। जहाँ-जहाँ भी दृष्टि जाती हो, मकान में, वृक्ष में, कीट-पतंगों में, जल में, वायु में, सर्वत्र उसी ब्रह्म को देखो। शिष्य साधना करने लगा और ऐसी स्थिति में पहुँचा जहाँ 'सियाराम मय सब जग जानी' देखने लगा।

एक दिन गुरुजी शिष्य से कहते हैं कि आश्रम के लिए सब्जी खरीद कर ले आओ। शिष्य उसी भाव में थैली को उठाता है, और बाजार की ओर चल देता है। लेकिन जब वह बाजार की ओर जा रहा होता है, तब देखता है कि लोग वहाँ से भाग रहे हैं। शिष्य पूछता है, क्या हुआ? किसी ने कहा कि एक हाथी पागल हो गया है, वह सबको रौंदते, कुचलते, सूँड़ में लपेटकर फेंकते चला आ रहा है, तुम भाग जाओ। शिष्य महाराज ने सोचा, सांसारिक लोग हैं, छोटी-सी बात में डर जाते हैं। अरे! हाथी मेरा क्या बिगाड़ेगा? उसने अपने आपको सांत्वना दी। अगर एक कटोरी के जल को कोई सागर में डाल दे, तो किसको चोट लगेगी? जल एक हो जायेगा, भिन्न नहीं रहेगा। चलो, हाथी महाराज को देखते हैं। उसमें भी तो वही ब्रह्म है, वही ईश्वर है, जो मुझमें है।

वह आगे बढ़ने लगा, लेकिन संयोगवश हाथी दार्शनिक मूड में नहीं था। हाथी ने देखा कि कोई मानव-पशु मेरी ओर बढ़ा आ रहा है। उसने उसे सूँड़ में उठाकर फेंक दिया और शिष्य महाराज के हाथ-पैर टूट गये। वह सदर अस्पताल में भर्ती हो गया।

जब गुरुजी शिष्य को देखने के लिए गये, तब देखा कि वह शिष्य ब्रह्म की महिमा को भूल चुका था और उन्हीं को गाली दे रहा था। किस प्रकार की शिक्षा तुमने दी कि मेरी ऐसी हालत हुई। शिष्य ने बतलाना शुरू किया कि जब मैं बाजार जा रहा था तब एक आदमी आया और उसने मुझे चेतावनी दी। मैंने सोचा हाथी तो ब्रह्म है। और इस प्रकार अंत में जो परिणाम हुआ, सो तो आप

देख ही रहे हैं। गुरुजी ने शिष्य से मात्र एक बात कही – तुम्हारी साधना तो अच्छी है, लेकिन उसमें तुम एक बात भूल गये। जो आदमी तुम्हें चेतावनी देने आया था, क्या वह ब्रह्म नहीं था? अगर उस आदमी में तुम ब्रह्म को देखते, तो आज तुम्हारी यह हालत नहीं होती।

ध्यान की प्रक्रिया

इसलिए हम कह रहे हैं कि योग को मात्र सैद्धान्तिक, विचारात्मक या दार्शनिक विषय न मानकर इसकी वास्तविकता को देखकर मनुष्य इस पथ पर आगे बढ़ता है। मन के भीतर से सर्वप्रथम त्रैत भाव को, फिर द्वैत भाव को समाप्त करना पड़ता है, और यहीं से ब्रह्म-विद्या की शुरुआत होती है, योग का आरम्भ होता है। इसका एक ही माध्यम है – ध्यान।

ध्यान हर व्यक्ति करना चाहता है, क्योंकि हर व्यक्ति के मन में अभिलाषा है कि अगर मैं ध्यान करूँगा, तो मुझे अतीन्द्रिय बोध होगा, अतीन्द्रिय शक्ति प्राप्त होगी। शक्ति, सिद्धि एवं संतुष्टि की कामना से वह ध्यान-मार्ग में प्रेरित होता है, परन्तु ध्यान-मार्ग में स्वार्थहीन रहना आवश्यक है। इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का समाप्त हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। अगर ये सब विकार हमारे भीतर रहेंगे, तो हम ध्यान-मार्ग में कभी सफल नहीं होंगे। इसीलिए योग-दर्शन में महर्षि पतंजलि ने भी ध्यान योग को सातवाँ सोपान कहा है, और पूर्व के छः अंगों के द्वारा (षडंग योग, जिसमें वे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा की चर्चा करते हैं) उन्होंने एक भूमिका बनाने का प्रयत्न किया है, ताकि ध्यान की स्थिति तक पहुँचा जा सके। ध्यान की परिणति समाधि में होती है। ध्यान को अंत में रखने का प्रयोजन यही था कि ध्यान की अवस्था में पहुँचने से पहले यम और नियम के द्वारा विचार-व्यवहार को शुद्ध करके, आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर और प्राण को संतुलित करके, प्रत्याहार और धारणा के द्वारा मन को नियंत्रण में लाकर, एक ऐसी स्थिति को हम प्राप्त करें, जहाँ पर किसी प्रकार की आन्तरिक उद्विग्नता न हो, ताकि हम ध्यान की अवस्था में सहज रूप से प्रवेश कर सकें।

ध्यान की स्थिति में सर्वप्रथम त्रैत की अनुभूति होती है। त्रैत की अनुभूति, अर्थात् तीन अवस्थाओं का ख्याल। 'ध्याता ज्ञान' – यह पहली अवस्था है। दूसरी स्थिति को कहते हैं 'ध्येय ज्ञान' और तीसरी स्थिति को कहते हैं – 'ध्यान प्रक्रिया ज्ञान'। ध्याता, ध्येय और ध्यान – ये तीन अवस्थाएँ हुईं।

सामान्य रूप से हम लोग जब ध्यान करने बैठते हैं, तब सबसे पहले हमें ध्येय का ख्याल रहता है कि मैं इस चीज को प्राप्त करना चाहता हूँ। ध्येय को मन में धारण करके हम ध्यान की एक पद्धति को अपनाते हैं कि हम ध्यान करेंगे। मन्त्र ध्यान करेंगे या विचार ध्यान करेंगे या वैदिक ध्यान करेंगे या तांत्रिक ध्यान करेंगे। हम चाहे जिस पद्धति को अपनायें, वहाँ यह चेतना प्रबल रहती है कि मैं कर रहा हूँ। मैं कर्त्ता हूँ। ध्यान में चेतना का एक अनवरत प्रवाह होना चाहिए, जो इस त्रैत अवस्था में नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति रहनी चाहिए कि किसी प्रकार के प्रत्यय और विकार उत्पन्न न हों। लेकिन प्रारम्भ में यह स्थिति नहीं रहती, और हमलोगों का पूरा मन 'मैं' पर केन्द्रित हो जाता है कि मैं कर रहा हूँ, मैंने इस प्रक्रिया को अपनाया है। परन्तु जैसे-जैसे हम ध्यान-मार्ग में आगे बढ़ते हैं, एक-एक करके एक-एक अवस्था का नाश होता है, पहले ध्यान का, उसके बाद ध्याता 'अहं' का, कर्त्तापन का; उसके बाद शेष बचता है केवल ध्येय। और जब ध्येय में मन केन्द्रित हो जाता है, जब हम ध्येय को सहज रूप से प्राप्त कर लेते हैं, तब वह स्थिति है 'समाधि' की। मैं आपको यह प्रक्रिया सरल शब्दों में समझा रहा हूँ।

ध्यान करते समय कुछ विशेष बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। ध्यान में सजग होना आवश्यक है। हमारा निजी अनुभव रहा है कि सर्वप्रथम शारीरिक स्थिरता, उसके पश्चात् मानसिक स्थिरता और उसके पश्चात् ध्येय में अपने को केन्द्रित करना, ये ध्यान-मार्ग की विविध कड़ियाँ हैं, क्योंकि इस अवस्था में मन के पूर्ण केन्द्रित होने पर सभी प्रकार की चंचलता समाप्त हो जाती है। यह है ध्यान की अवस्था में प्रतिष्ठित होना।

इस केन्द्रीकरण में भी विस्तार का अनुभव छुपा हुआ है। यह कह सकते हैं कि उस व्यापक ब्रह्म चेतना की अनुभूति इस सीमित ब्रह्म चेतना में होना ही ध्यान है। चेतना का कोई भाग नहीं होता, हम लोग तो स्वयं को समझने के लिए चेतना को अलग-अलग नाम देते हैं, पर वास्तव में उसकी कोई सीमा नहीं होती। जागृति की सीमा नहीं, स्वप्न की सीमा नहीं, निद्रा की सीमा नहीं, और तुरीय की सीमा नहीं। अगर हम समुद्र में गोता लगायें तो समुद्री सतह के ऊपर में प्रकाश रहता है, लेकिन जैसे-जैसे हम नीचे जाते हैं, प्रकाश कम होता जाता है, और निचली सतह पर पहुँचने पर पूर्ण अंधकार का अनुभव होने लगता है। समुद्र तो जल का एक शरीर है, और प्रकाश उस समुद्र की गहराई के साथ धीरे-धीरे कम होता है। ठीक ऐसी ही स्थिति इन्द्रिय-ज्ञान की

है। जाग्रत अवस्था में हम चेतना के समुद्र की ऊपरी सतह पर हैं, जहाँ पर ज्ञान चेतना की ऊपरी सतह को प्रकाशित कर रहा है, लेकिन जैसे-जैसे हम चेतना के भीतर आयेंगे, वैसे-वैसे इन्द्रिय बोध कम होता जाएगा। जो इन्द्रिय बोध आपको इस क्षण हो रहा है, क्या वही इन्द्रिय बोध आपको स्वप्न में होगा? नहीं होगा। इन्द्रियाँ कार्यरत हैं, गतिशील हैं, लेकिन उनका अनुभव दूसरा है, वह पूर्ण प्रकाशित नहीं है। बाह्य जगत् में, जाग्रत अवस्था में तो वह स्थूल रूप में प्रकाशित है; और तुरीयावस्था में एक अद्वितीय आंतरिक चेतना सभी इन्द्रियों को प्रकाशित करती है। चेतना का कोई विभाजन नहीं, विभक्ति नहीं, सीमा नहीं। सजगता जहाँ पर धीरे-धीरे कम होती जाए, ऐसी विभिन्न अवस्थाओं को हम चेतना के भिन्न रूपों में अनुभव करते हैं। ध्यान में भी यही होता है। इन्द्रियों द्वारा प्रकाशित जगत् को छोड़कर हम जीवन के उस केन्द्र में पहुँचते हैं, जहाँ अंतर्निहित शक्ति से सभी प्रकाशित होते हैं। गीता में कहा गया है –

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्ययुगपदुत्थिता।
यदि भा: सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मन: ॥ 11.12 ॥

यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि हमारा जो स्रोत है, उसका प्रकाश सैकड़ों सूर्यों से भी अधिक है; और वह प्रकाश, वह तेज, सूर्य को भी प्रकाश देता है, अग्नि को भी प्रकाश देता है, और सितारों को भी प्रकाशित करता है। ध्यान प्रक्रिया का यही उद्देश्य है।



योग – तनाव मुक्ति का साधन

(कार्यक्रम आरम्भ होने के पूर्व, बिना किसी पूर्वापेक्षा के तूफानी हवा चलने लगी थी और घमासान वर्षा होने लगी थी।)

आज ईश्वर का जो आशीर्वाद हमें प्राप्त हो रहा है, उसके पीछे प्रभु का एक ही प्रयोजन है, कि हमें योग की वास्तविक शिक्षा मिले, क्योंकि जब तक बाह्य जगत् में विपत्ति नहीं आती, तूफान नहीं आता, तब तक शान्ति की अनुभूति नहीं होती। शान्ति की अनुभूति विषम परिस्थितियों से गुजरने के पश्चात् ही होती है। शायद यही उपदेश आपको देने के लिए प्रभु ने पवन देव को यहाँ भेजा, ताकि यह योग सम्मेलन आपको हमेशा याद रहे, और ऐसा न हो कि हमारे जाने के बाद आप इस योग सम्मेलन को तथा यहाँ पर आपने जो शिक्षा ग्रहण की है, उसे भूल जाएँ।

विचित्रता कहिए या प्रभु की लीला कहिए या संसार का तौर-तरीका कहिए पर मानव जीवन में शान्ति को प्राप्त करने के जितने प्रयास होते हैं, वे सब पुरुषार्थ विपत्ति के समय ही शुरू होते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की आज आवश्यकता नहीं होती, अगर हर मनुष्य स्वस्थ रहता। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की प्रगति नहीं होती, अगर मनुष्य बीमार न पड़ता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का संदेश आज हम नहीं पढ़ पाते, अगर अर्जुन विषादग्रस्त न होता।

यह जो स्थिति है, जिसे हम विषाद की स्थिति कहें, या तनाव की स्थिति कहें, या विक्षिप्त स्थिति कहें, इसी से जीवन को पुनः सजाने की प्रक्रिया आरम्भ होती है, क्योंकि यही एक स्थिति है जो हमें चिन्तन के लिए बाध्य कर देती है कि क्या हमारे जीवन का यही प्रयोजन है कि हम दुःखी रहें।

और जब इस प्रकार का चिन्तन प्रारम्भ होता है, तभी हम अपने जीवन को सुधारने का प्रयत्न करते हैं, अपने जीवन में सुख और शान्ति को लाने का प्रयत्न करते हैं।

कभी-कभी हम सोचा करते थे कि प्रभु की लीला बड़ी विचित्र होती है। अर्जुन मोह में पड़कर विषादग्रस्त होता है, लेकिन विषाद का निराकरण भगवान् श्रीकृष्ण किस प्रकार करते हैं? गीता के पहले अध्याय का नाम है– 'अर्जुन विषाद योग'। दूसरे अध्याय का नाम है – 'सांख्य योग'। विषाद के पश्चात् सांख्य कहाँ से आ गया? जिस विपत्ति का सामना हम अपने जीवन में करते हैं, जिससे हम त्रस्त हो जाते हैं, जिसके कारण हमें दु:ख होता है, जिसके कारण हम अशान्ति का अनुभव करते हैं, उसका निराकरण मात्र एक माध्यम से संभव है। और वह माध्यम है कि सर्वप्रथम हम अपने जीवन के मूल में पहुँचे, क्योंकि जब हम जीवन के मूल केन्द्र में पहुँचते हैं, तब ही जीवन में उत्पन्न परिस्थितियों, समस्याओं और विषादों को समझा जा सकता है। इसलिए प्रभु ने अर्जुन को सबसे पहले सांख्य योग का उपदेश दिया कि हे अर्जुन! तुम सबसे पहले यह समझ लो कि कर्त्ता कौन है। अगर तुम खुद को कर्त्ता मानते हो तो तुम्हारी यह विचारधारा ठीक नहीं है, क्योंकि न तुम कर्त्ता हो, न ही भोक्ता। तुम तो मात्र एक संयोग हो, पुरुष और प्रकृति के। पुरुष और प्रकृति के मिलन से जिस तत्त्व की उत्पत्ति होती है, वह तुम हो। यदि इस प्रकार की शिक्षा तुम अपने जीवन में प्राप्त कर सको, तो अपने जीवन को सुधारने एवं सजाने का प्रयत्न कर सकते हो।

आसक्ति और उसका निराकरण

जब तक जीवन में कर्त्ता का भाव रहता है, भोक्ता का भाव रहता है, तब तक किसी प्रकार का प्रयत्न सफल नहीं होता, क्योंकि 'मैं' का भाव उसके साथ जुड़ा है, और 'मैं' के साथ आसक्ति जुड़ी है। आसक्ति के साथ भ्रम, अविद्या, मोह और माया जुड़ी है। और इनमें सबसे प्रबल शक्ति है आसक्ति की। आसक्ति की परिभाषा मालूम है न आपको? जो आ सकती है, जा नहीं सकती, उसी को आसक्ति कहते हैं। जो हम ग्रहण करते हैं, जो आकर हमसे चिपक जाती है, जिसका निदान हम नहीं कर पाते, वही आसक्ति है।

यह आसक्ति हर व्यक्ति अपने जीवन में अपने-अपने स्तर पर अनुभव करता है। किसी की आसक्ति अपने शरीर के साथ होती है, किसी की अपने

परिवार तथा स्वजनों के साथ, किसी की अपने धन, सम्पत्ति और वैभव के साथ तो किसी की आसक्ति नाम और यश के साथ होती है। अर्जुन को क्या हुआ था? उसे युद्धभूमि में आसक्ति का अनुभव होने लगा था। और जो चीज आ सकती है, जा नहीं सकती, उसके निराकरण के लिए भगवान् को सत्रह और अध्यायों की शिक्षा देनी पड़ी। अगर एक बार कहने से वह आसक्ति जा सकती, तो अठारह अध्यायों की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए आप इस बात को अच्छी तरह से समझ लीजिए कि जीवन में चाहे जो परिस्थिति हो, चाहे सुख की हो या दुःख की, एक ही प्रयत्न हमें करना है। हमें मात्र इतना करना है कि हम जीवन की हर परिस्थिति में अपने आपको संयत और संतुलित रखें। बहुत बार लोग हमारे पास आते हैं, और कहते हैं – स्वामीजी, हम बहुत अशान्त हैं। हमें शान्ति चाहिए। मैं उनसे एक ही प्रश्न करता हूँ, तुम शान्ति की खोज क्यों कर रहे हो? सबसे पहले यह पता क्यों नहीं लगाते कि तुम्हारे अशान्त होने का कारण क्या है? तुम्हारे अशान्त रहने के पीछे रहस्य क्या है? क्योंकि जिस दिन हमें यह मालूम पड़ जाएगा कि हम अशान्त क्यों हैं, हमें शान्ति की खोज नहीं करनी पड़ेगी। अशान्ति का निराकरण वहीं हो जाएगा। लेकिन सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि हम जानते ही नहीं कि हम विक्षिप्त क्यों हैं, विचलित क्यों हैं? और यहाँ पर यौगिक मनोविज्ञान कामयाब सिद्ध होता है।

योग-मनोविज्ञान कहता है कि मनुष्य एक जीवन-चक्र में फँसा हुआ है। हमारे दर्शन और सिद्धान्त हमें बतलाते हैं कि जन्म-मृत्यु एक चक्र है, जिसमें यह जीव फँसा हुआ है। परन्तु जन्म-मृत्यु चक्र के अतिरिक्त हम अनेक चक्रों में फंसे हुए हैं। मन का चक्र, कामनाओं का चक्र, इच्छाओं का चक्र, वासनाओं का चक्र, महत्त्वाकांक्षाओं का चक्र, कितनों का नाम लें? हर एक अनुभव हमारे जीवन में एक चक्र का रूप धारण करता है, और हम उसमें इतने रम जाते हैं, इतने फँस जाते हैं, इतने लिप्त हो जाते हैं कि उससे बाहर निकल नहीं पाते। इन चक्रों से मुक्ति दिलाने की विधि को हम कहते हैं योग। मैं आपको एक छोटा-सा दृष्टान्त देता हूँ कि योग किस प्रकार काम करता है।

प्रणव उच्चारण द्वारा तनाव-मुक्ति

अनेक वर्ष पूर्व स्पेन के एक अस्पताल में एक संन्यासी को यंत्रों के बीच रखा गया। वे यंत्र उस संन्यासी के मस्तिष्क में होते हुए परिवर्तनों की जाँच कर रहे

थे। यंत्र था 'इलेक्ट्रोइन्सेफ्लोग्राफ', जिसे सामान्य भाषा में ई.ई.जी. कहते हैं। इससे मस्तिष्क में उत्पन्न विद्युत तरंगों को देखा और मापा जाता है। उस प्रयोग के दौरान संन्यासी ने दस मिनट तक मात्र 'ॐ' मंत्र का उच्चारण किया। इस प्रयोग के पीछे एक प्रयोजन यह देखना था कि किस प्रकार उन मरीजों के भय को कम किया जाए, जो अस्पताल जाते समय बीमारी से कम, भय से ज्यादा पीड़ित रहते हैं, ताकि अगर ऑपरेशन करना पड़े, तो ऑपरेशन टेबल पर वे भयभीत न रहें, विचलित न रहें, निराश न रहें, और उन्हें किसी प्रकार की प्रशांतक दवा न देनी पड़े। तो यह प्रयोग हो रहा था उस संन्यासी पर। ॐ मंत्र पर प्रयोग के दौरान देखा गया कि कुछ मिनटों के ॐ उच्चारण के पश्चात् मस्तिष्क की जो चंचल तरंग है, जिसे बीटा तरंग कहा जाता है, जो शारीरिक, स्नायविक उत्तेजना की प्रतीक है, जो चेतना की बहिर्मुखी अवस्था की द्योतक है, वह बीटा तरंग धीरे-धीरे शान्त हो गयी, और अल्फा तरंग की प्रधानता दिखलाई देने लगी। अल्फा तरंग मन के शान्त होने का लक्षण है। अल्फा तरंग से यह मालूम पड़ता है कि मानसिक विश्राम की स्थिति आ रही है, मानसिक उत्तेजना समाप्त हो रही है, और स्नायु-संस्थान अब संतुलित एवं नियंत्रित हो रहा है। कुछ मिनटों के पश्चात् अल्फा तरंग के स्थान पर डेल्टा तरंग को उत्पन्न होते देखा गया, जो मानसिक एकाग्रता का लक्षण था, तनावमुक्त अवस्था का लक्षण था।

वहाँ के चिकित्सकों ने आज तक ॐ उच्चारण की प्रक्रिया को अपनाया हुआ है। अस्पताल में जो भी मरीज आएगा, चाहे किसी प्रकार की चिकित्सा के लिए आए, वह सर्वप्रथम दस मिनट बैठकर शान्त भाव से ॐ मंत्र का उच्चारण करेगा। जिस संन्यासी पर यह प्रयोग किया जा रहा था, उसका नाम था स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती। और मैं आपको यह बात केवल एक ही चीज समझाने के लिए बतला रहा हूँ कि मंत्र एक ऐसी शक्ति, स्पन्दन और ध्वनि है, जिसके द्वारा हम मानसिक उत्तेजना एवं विक्षिप्तता को शान्त कर सकते हैं। और यह केवल उतने को ही शान्त करने में सक्षम नहीं, बल्कि आप खुद अन्दाज लगा लीजिए कि अगर अस्पतालों में प्रशांतक दवाओं के बदले ॐ मंत्र का प्रयोग हो रहा है तो उसके पीछे अवश्य ही वैज्ञानिकों का कुछ शोध तो रहा होगा, यह अंधविश्वास नहीं है।

हमारे मस्तिष्क और स्नायु-संस्थान में यह जो परिवर्तन होता है, वह शरीर, मन, भावना और बुद्धि को संतुलित करने में सक्षम होता है। योग एक

बहुआयामी विज्ञान है। इसका एक पक्ष है शारीरिक। शारीरिक पक्ष में देखा जाता है कि मनुष्य अपनी ही नासमझी के कारण अपने आपको रोगी बनाता है। ईश्वर ने यह कभी नहीं चाहा था कि मानव-जीवन रोगपूर्ण हो। ईश्वर तो हमेशा यही चाहते हैं कि मनुष्य का जीवन आनन्द से परिपूर्ण रहे। लेकिन हम लोग अपने को कर्त्ता-धर्त्ता मान कर अपने जीवन को अपने हाथ में ले लेते हैं, और यही कारण है कि हम रोगी बनते हैं। जिसे देख भगवान् हँसते भी हैं। अगर भगवान् को हँसाना हो तो हम आपको एक बहुत सुन्दर उपाय बतलाते हैं। आपकी भविष्य की जितनी योजनाएँ हैं, सब उन्हें बतला दीजिए।

जब आप अपने भविष्य की योजनाएँ भगवान् को बतलाएँगे, तब वे आप पर जरूर हँसेंगे, क्योंकि आपकी जो योजना रहती है, आपकी जो इच्छा रहती है, उसमें आपका ही प्रमुख स्थान रहता है, ईश्वर का नहीं। हम प्रार्थना करते हैं, 'भगवान्! तुम सर्वज्ञ हो, अंतर्यामी हो, लेकिन फिर भी मेरी प्रार्थना अवश्य सुन लो।' अब हमारी इस प्रार्थना में भगवान् का स्थान कहाँ है? कहीं नहीं। इसी मानसिकता से अगर हम आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह कैसे संभव है? हमारे भीतर न समर्पण है, न सुख है, न शान्ति है और हम हमेशा इसे बाहर, अन्यत्र खोजा करते हैं।

चिंता और तनाव

हम स्वयं को शारीरिक एवं मानसिक रूप से व्याधिग्रस्त बनाते जाते हैं। मृत्यु के समय तो हम चिता में जलते हैं, लेकिन जब जीवित रहते हैं तब चिन्ता हमें जलाती रहती है। इस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए, पहले यह जान लें। चिन्तामुक्त होना है, लेकिन चिन्तामुक्त कैसे हों? चिन्ता के अनेक स्तर होते हैं, और यह चिन्ता तनाव के रूप में सामने आती है, जो शारीरिक, मांसपेशीय, स्नायविक, बौद्धिक, विचारात्मक और भावनात्मक होती है। ये तनाव बीज रूप में उत्पन्न होकर हमारे पूरे व्यक्तित्व, व्यवहार और विचार को बदल देते हैं। ऐसे में योग का उद्देश्य रहता है कि सबसे पहले हम स्वयं को तनावमुक्त करें, और शान्ति को अपने जीवन में स्थापित करें।

लेकिन शान्ति की अंतिम अनुभूति हमसे बहुत दूर होती है। हमारी पहचान तो अपने शरीर के साथ रहती है। हम अपने शरीर को ही सर्वप्रथम देखते हैं। शरीर में अगर कहीं चोट लगती है, तो तुरंत उस अंग की मलहम-पट्टी कर देते हैं। शरीर हमारे सामने एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम हैं। और

शरीर के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण है 'मन', जिसका ज्ञान हमें अपने विचारों के द्वारा होता है। लेकिन मन तो शरीर से सूक्ष्म है, इस मन तक पहुँचे कैसे? हम अपने शरीर को देखकर कह सकते हैं कि हमारे शरीर में इतने अंग हैं, हमें अपने शरीर में इस स्थिति का अनुभव हो रहा है। लेकिन मन तक पहुँचने के लिए हम क्या करेंगे?

कुछ लोग कहते हैं कि मन को जानना हो तो विचारों को समझो। कुछ लोग कहते हैं कि मन को जानना हो तो अपनी भावनाओं को समझो। कुछ लोग कहते हैं कि मन को जानना हो तो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को समझो। परन्तु योग कहता है कि मनुष्य के जीवन में चार प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। पहली अनुभूति है उसके सामर्थ्य, उसकी शक्ति या क्षमता की। दूसरी अनुभूति होती है कमजोरी की। जिसको कहा जाए व्यक्तित्व की कमजोरी। तीसरी अनुभूति होती है महत्त्वाकांक्षा की। और चौथी अनुभूति होती है, जीवन में दैनिक आवश्यकताओं की।

मानव जीवन की इन चार अनुभूतियों – सामर्थ्य, कमजोरी, महत्त्वाकांक्षा और आवश्यकता की परिधि में ही हम जीवन जीते हैं। हमें ज्ञान है कि हम यह कर सकते हैं। हमारे भीतर यह क्षमता है। हमें यह विश्वास है कि इस मार्ग पर हम चलेंगे तो सफलता प्राप्त होगी। लेकिन साथ-ही-साथ मन के एक क्षेत्र में हमें यह भी मालूम है कि हमारे जीवन में ये-ये कमजोरियाँ हैं। कुछ लोग अपने बड़े अधिकारी से डरते हैं। कुछ लोग मित्रों से डरते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार ये सब हीन भावना के रूप में, अवरोध के रूप में हमारे जीवन में प्रकट होते हैं। जीवन में महत्त्वाकांक्षा भी रहती है कि हम कुछ बनें। और जीवन की आवश्यकताएँ भी होती हैं। शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, पानी, अन्न, कपड़ा, मकान, परिवार को चलाने के लिए अर्थ इत्यादि की।

इन्हीं चारों के क्षेत्र में हमारा जीवन बीतता है, और जब हम इन चारों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में सफल नहीं होते, तब तनाव की उत्पत्ति होती है। अगर भोजन न मिले तो मन में क्लेश उत्पन्न होगा। अगर हमें महत्त्वाकांक्षा के रहते सामाजिक मान्यता न मिले, यश के बदले अपयश मिले, तो उससे भी तनाव की उत्पत्ति होती है। अगर हमें ग्लानि होने लगे कि मेरे जीवन में आत्म-शक्ति की कमी है, संकल्प-शक्ति की कमी है, तो उससे भी तनाव उत्पन्न होता है, क्षोभ उत्पन्न होता है। अगर हम अपनी पूरी जान लगाकर किसी चीज को प्राप्त करने का प्रयत्न करें, और वह न मिले, तो भी तनाव की उत्पत्ति

होती है। वैसे देखा जाए तो सब अवस्थाओं में तनाव ही प्रमुख तत्त्व है, जिसके कारण हम व्याधि, परेशानी और अशान्ति का सामना करते हैं। इस तनाव को दूर करने के लिए पहला प्रयत्न होता है शरीर से, क्योंकि यह शरीर स्थूल है, और इससे हमारा परिचय है।

शरीर और योगासन

मनीषियों ने योग के शारीरिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए आसनों की चर्चा की है। लेकिन आसनों की परिभाषा उन्होंने क्या दी है? योग सूत्रों में आसनों के बारे में कहा जाता है – *'स्थिरं सुखमासनम्'*। आसन शरीर की वह स्थिति है, जिसमें आप स्थिर रह सकते हो, और उस स्थिरता में किसी प्रकार का तनाव या दर्द न हो, आप उस शारीरिक स्थिति में सुख का अनुभव कर सको। यह है आसन की परिभाषा। मैं आपको एक बात और भी बतला दूँ। आसनों की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। कुछ आसन गत्यात्मक होते हैं और कुछ स्थिर, जिनमें अधिक शारीरिक हलचल नहीं करनी पड़ती। जो स्थिर आसन हैं, वे शरीर को उस स्थिरता की अवस्था में, सुखपूर्वक अवस्था में लाने के अभ्यास हैं।

इस प्रकार आसनों को भी हम अनेक भागों में विभाजित कर देते हैं। पहला भाग, जिससे हमारा शरीर एक स्थिर अवस्था को प्राप्त करने में सक्षम हो जाए, जिसमें न मांसपेशियों में तनाव रहे, न तंत्रिका तंत्र में, और सभी प्रणालियाँ सुचारू रूप से कार्य करें। और जब इस प्रकार की स्थिति आती है, तब हम आसनों की दूसरी अवस्था में प्रवेश करते हैं। आसनों का जो दूसरा शारीरिक पक्ष है, उसमें शरीर के आंतरिक व्यवहार में परिवर्तन लाया जाता है।

शरीर का आंतरिक व्यवहार किस प्रकार का होता है? हमारे शरीर में हृदय-संस्थान का एक स्वभाव है, स्नायु-संस्थान का एक स्वभाव है, ग्रंथियों का एक स्वभाव है, हार्मोनों का एक स्वभाव है। अगर आप दौड़ने लगें, तो क्या होगा? रक्त-संचार तीव्र हो जाएगा, हृदय की धड़कन बढ़ जाएगी। इस प्रकार के जो परिवर्तन हाते हैं, वे हमारे शरीर को विभिन्न अवस्थाओं में ले जाते हैं, जिसे वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं – 'संघर्ष या पलायन'। संघर्ष माने लड़ाई की तैयारी, और पलायन माने शरीर की शान्त अवस्था।

आसनों के अगले पक्ष का प्रयोजन रहता है आंतरिक अंगों के स्वभाव में परिवर्तन, ताकि हमारे शरीर के भीतर अगर किसी प्रकार का असंतुलन हो,

किसी ग्रन्थि का कार्य सुचारु रूप से न हो रहा हो, जिसके कारण हमारे आंतरिक अंग पीड़ित हो रहे हों, रोग उत्पन्न हो रहा हो, किसी रसायन का उत्पादन बन्द हो गया हो, तो वह ठीक हो जाए। हम अपने शरीर को तनावमुक्त अवस्था के एक दूसरे क्षेत्र में ले जाते हैं। सबसे पहले कड़ापन दूर किया जाता है। मांसपेशियों में निहित तनाव को दूर किया जाता है। इसके पश्चात् आंतरिक अंगों से तनावों को दूर किया जाता है।

आसनों का तीसरा पक्ष है, शरीर में प्राणशक्ति का संचार करना। जिस प्रकार हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में रक्त का संचार होता है, ठीक उसी प्रकार प्राणशक्ति का भी संचार होता है, और यह प्राणशक्ति हमारे शरीर के लिए जीवनी-शक्ति का कार्य करती है। अगर आप अपने शरीर को प्राणशक्ति रहित कर दें, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। शरीर में जब प्राणशक्ति रहती है, तब उसे जीवन मिलता है। अत: प्राणशक्ति का संचार सुचारु रूप से करना आसनों का तीसरा उद्देश्य है। इसके पश्चात् हम आसनों के चौथे शारीरिक पक्ष में प्रवेश करते हैं। हमारे शरीर की चौथी स्थिति है शारीरिक अंगों, शारीरिक क्रियाओं, मस्तिष्क और उसकी क्रियाओं में पूर्ण सामंजस्य की स्थापना। इन दोनों का प्रभाव पड़ता है मन पर। यही आसनों का प्रयोजन है, और इस क्रम में जब हम आसनों का अभ्यास करते हैं तब जैसे-जैसे शारीरिक विकार दूर होते हैं, कड़ापन दूर होता है, तनाव दूर होते हैं, वैसे-वैसे रोग दूर होने लगते हैं।

यौगिक दिनचर्या

एक बात और महत्त्वपूर्ण है। यह देखा गया है कि आसन तो आप जो चाहे सो कर सकते हैं, लेकिन अगर आपका शरीर तैयार नहीं है, अगर शरीर में कड़ापन है, विकार हैं, तो रोग निदान में समय लगता है। परन्तु योगासन के प्रारंभिक अभ्यासों के द्वारा यदि शरीर को तैयार कर रोग निदान की भूमिका बना ली जाए, तो पन्द्रह दिन के भीतर आप पूर्णत: स्वस्थ हो सकते हैं। हम आश्रम में जो स्वास्थ्य रक्षा सत्र चलाते हैं, वह पन्द्रह दिन का होता है। उसमें एक सप्ताह केवल शरीर को तैयार किया जाता है और दूसरे सप्ताह, जिस बीमारी से व्यक्ति पीड़ित हो, उसके निदान के उपाय बतलाए जाते हैं, और पन्द्रह दिन के भीतर वह एकदम ठीक होकर लौटता है।

योग की यह मान्यता है कि बीमारी का मुख्य कारण तनाव है। चाहे वह मनोकायिक रोग हो, चाहे शरीर के भीतर उत्पन्न होकर, बाह्य परिस्थितियों को

एक कारण बनाकर मन को प्रभावित करे, लेकिन एक स्पष्ट बात मैं आपको बतलाने जा रहा हूँ कि जब तक आप अपनी दिनचर्या को नहीं बदलेंगे, तब तक चाहे आप दस साल आसन कर लें, दस हजार आसन कर लें, ठीक नहीं हो पाएँगे। दिनचर्या किस प्रकार की हो? सबसे पहले आहार संयम आवश्यक है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि दिन में एक समय खाना। दिन में जितनी बार खाना हो खाओ, कम-से-कम तीन बार तो अवश्य खाओ। सबेरे नाश्ता करना, दिन का भोजन करना, शाम का भोजन करना। पेट भर करना। जो इच्छा हो, सो खाना। लेकिन इनके बीच एक बिस्कुट तक नहीं लेना। अगर नाश्ता करते हो तो नाश्ते और भोजन के बीच कुछ नहीं लेना, क्योंकि जो लेते हो, वह तुम्हारी बीमारी का कारण बनता है। चाहे वह एक बिस्कुट या मुट्ठी भर नमकीन ही क्यों न हो। अगर स्वास्थ्य चाहते हो तो जीवन में आहार-संयम सर्वप्रथम आवश्यक है। अगर चार समय खाने का नियम है, तो चार समय खाओ। लेकिन बीच में कुछ नहीं। आहार संयम पहले और उसे बाद फिर आसनों का अभ्यास होना चाहिए। आसनों का अभ्यास उतना ही हो जितना आपको अपने रोग को दूर करने के लिए आवश्यक है, अधिक नहीं। दस एस्प्रिन खाने से सरदर्द एक मिनट में ठीक नहीं होता, समय उतना ही लगता है। यही बात आसनों पर भी लागू होती है।



सत्संग

योग के अभ्यास विविध प्रकार के होते हैं। हम लोगों को अपने दैनिक जीवन में किस प्रकार के अभ्यासों को अपनाना चाहिए, ताकि हमारे जीवन का सर्वांगीण विकास हो सके और हम अपने समय में परिवर्तन किए बिना योग का समुचित लाभ उठा सकें?

हमारा सुझाव है कि चौबीस घंटे के काल में, कम-से-कम एक घंटे का समय अपने लिए अलग रखना चाहिए, और इस एक घंटे को आप दो भागों में विभाजित कर दीजिए। आधा घंटा सुबह, आधा घंटा शाम को; या एक घंटा एक ही काल में, और इस समय अपने अभ्यास के लिए कुछ विशेष आसनों का, प्राणायामों का, जप और ध्यान की विधियों का चयन कर लीजिए।

यदि हम स्वस्थ हैं, किसी प्रकार की समस्या या कठिनाई नहीं है, तो पाँच या छः चुने हुए आसनों का अभ्यास होना चाहिए। हमारा सुझाव है कि सबसे पहले ताड़ासन का अभ्यास होना चाहिए, क्योंकि ताड़ासन में मेरुदण्ड और शरीर के सभी अंगों, मांसपेशियों एवं जोड़ों का विस्तार होता है। जोड़े, जो कड़े हो जाते हैं, जो कहीं पर तनाव की स्थिति में रहते हैं; मांसपेशियाँ, जो तनी हुई रहती हैं, उनमें विस्तार होने से शिथिलता आती है तथा रक्त-संचार सही ढंग से होने लगता है।

अत: सर्वप्रथम स्वस्थ व्यक्ति के लिए जो योग का कार्यक्रम होना चाहिए, उसमें ताड़ासन पहला अभ्यास है। दूसरा अभ्यास तिर्यक् ताड़ासन का होना चाहिए। तिर्यक् ताड़ासन के अभ्यास में ताड़ासन की ही अवस्था में हम अपने शरीर को दाहिनी और बायीं ओर झुकाते हैं, जिससे बगल की मांसपेशियों का, कमर की मांसपेशियों का विस्तार होता है। हमारे बगल के क्षेत्र की जो

मांसपेशियाँ हैं, उनका दैनिक जीवन में प्रयोग बहुत कम होता है। हम आगे झुकते हैं, पीछे झुकते हैं, हाथ को ऊपर उठा देते हैं, लेकिन बगल का विस्तार नहीं हो पाता, और इन क्षेत्रों में मांसपेशियों की शक्ति और सामर्थ्य कुंठित ही रहता है।

शक्ति-संचार तथा रक्त-संचार के लिए तिर्यक् ताड़ासन का अभ्यास आवश्यक है। तीसरा अभ्यास है कटि चक्रासन, जिसमें शरीर को निचोड़ा जाता है। जैसे हम कपड़े को धोकर निचोड़ते हैं, वैसे ही शरीर को भी मोड़कर मांसपेशियों और अंगों के भीतर एक निचोड़ की स्थिति उत्पन्न की जाती है। शरीर के वे अंग तथा मांसपेशियाँ, जिनमें रक्त-संचार ठीक ढंग से नहीं होता, निचुड़ते हैं और रक्त-संचार ठीक ढंग से होने लगता है।

चौथा अभ्यास होना चाहिए आगे तथा पीछे झुकने वाले आसनों के समूह का, जिसको हम सूर्यनमस्कार कहते हैं। और अन्त में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति को उलटने के लिए, शरीर से दबाव एवं तनाव को दूर करने के लिए एक विपरीत होने वाले, उल्टा होने वाले अभ्यास को करना आवश्यक है। अगर आप स्वस्थ हैं और शीर्षासन कर सकते हैं, तो वह उत्तम अभ्यास है। अगर वह संभव नहीं है, तो सर्वांगासन का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

हमारा मत है कि योगासनों को कभी अधिक संख्या में नहीं करना चाहिए। सिखलाने के लिए तो आपको बहुत-से अभ्यास सिखला सकते हैं। लेकिन अन्त में यही प्रश्न उभरता है कि हमने इतना सीख तो लिया है, पर हमें कौन-सा अभ्यास करना चाहिए। जो कार्यक्रम हम अभी बतला रहे हैं, यह स्वस्थ व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें किसी प्रकार की समस्या या रोग नहीं, जो एक स्वस्थ एवं स्फूर्तिमय जीवन बिताना चाहते हैं, और साथ-ही अपने शरीर की सुरक्षा भी चाहते हैं।

सामान्य रूप से अगर आप अपनी दिनचर्या को देखेंगे तो यही अनुभव करेंगे कि प्रात: से रात्रि तक हम अपने शरीर का सही उपयोग नहीं कर पाते। कुछ लोग टहलने जाते हैं, कुछ जॉगिंग करते हैं, कुछ व्यायाम करते हैं, लेकिन इस प्रकार के अभ्यासों से शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा मांसपेशियों का अभ्यास नहीं होता। सिर से पैर तक शरीर के सभी अंगों तथा मांसपेशियों को ढीला करना, तनावरहित बनाना आवश्यक है। आसनों में ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्रासन, सूर्यनमस्कार और सर्वांगासन पर्याप्त हैं। इसके पीछे यह सिद्धान्त भी है कि आसनों को सरलतापूर्वक करने से जो लाभ

आपको प्राप्त हो सकता है, वह सौ या हजार आसनों को करने से संभव नहीं। अगर सरदर्द होता है तो आप डिस्प्रिन की एक गोली लेते हैं। एक डिस्प्रिन लेने के दस-पन्द्रह मिनट बाद सरदर्द कम होता है, समाप्त होता है। लेकिन आप सोचें कि हम डिस्प्रिन की पन्द्रह गोलियाँ एक ही बार में ले लें, और उसके बाद एक मिनट में हमारा सरदर्द समाप्त हो जाए, तो वह तो होगा नहीं, उलटे शरीर को हानि पहुँचेगी। ठीक यही सिद्धान्त योग का भी है। अधिक करोगे तो यौगिक डायरिया हो जाएगा। कम करोगे तो यौगिक कब्जियत हो जाएगी। इसलिए अभ्यास में संतुलन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

आसनों के अभ्यास के पश्चात् प्राणायामों का अभ्यास होना चाहिए। प्राणायाम के अभ्यास मौसम के अनुसार होते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि प्राणायामों के अभ्यास से शरीर के भीतर ऊर्जा बढ़ती है, गरमी बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। प्राणायामों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। प्राणायाम का एक वर्ग है, जिससे शरीर के भीतर ऊर्जा और गरमी की उत्पत्ति होती है। दूसरा वर्ग है, जिससे शरीर में ठण्ढक और शिथिलता उत्पन्न होती है। तीसरा वर्ग है, जिससे हम शरीर में संतुलन को प्राप्त कर सकते हैं। तो मौसम के अनुसार प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए। अगर ठण्ढ के दिन हैं तो ऐसे प्राणायामों का अभ्यास करें, जिनसे हमारे शरीर में गरमाहट उत्पन्न हो, शरीर में शक्ति का संचार हो। गरमी के दिन हों, तो ठण्ढक की आवश्यकता होती है। और जब हमारे शरीर में स्नायविक विकार उत्पन्न होने लगते हैं, तब संतुलन के प्राणायाम सहायक सिद्ध होते हैं।

एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए तीन प्राणायाम ही पर्याप्त हैं। पहला है कपालभाति प्राणायाम। यह शारीरिक तनाव से मुक्ति दिलाकर, शरीर में प्राणशक्ति का संचार करने में सक्षम है। साथ-ही-साथ मस्तिष्क के भीतर तन्द्रा की जो अवस्था रहती है, आलस्य की जो स्थिति रहती है, उसे हम कपालभाति प्राणायाम से दूर कर सकते हैं। मस्तिष्क की क्षमता और प्रतिभा को इस प्राणायाम से बढ़ाया जा सकता है। दूसरा अभ्यास है नाड़ी शोधन प्राणायाम, जो हमारे शरीर के विभिन्न तंत्र-तंत्रिकाओं को संतुलित बनाता है।

अनुकम्पी और परानुकम्पी तंत्रिका तंत्रों के प्रभाव से हम अपने जीवन में हमेशा दो प्रकार के अनुभवों को देखते हैं। कभी उत्तेजनात्मक अनुभव, तो कभी आलस्य का अनुभव। जब हम उत्तेजित हो जाते हैं, तब विचारशक्ति कम हो जाती है और प्राणशक्ति विक्षिप्त हो जाती है। आलस्य की अवस्था में

कर्म करने की क्षमता कम हो जाती है। लगता है दिनभर बिस्तर में ही पड़े रहें। न किसी से मिलें, न किसी से बात करें। मन अत्यन्त अन्तर्मुखी हो जाता है। ऐसे में नाड़ी शोधन प्राणायाम का प्रयोजन है, हमारे मन के भीतर जो उत्तेजना और आलस्य की स्थिति उत्पन्न होती है, उसे संतुलित करना। इस संतुलन का प्रभाव शरीर, मन तथा मस्तिष्क पर पड़ता है।

इसके पश्चात् तीसरा प्राणायाम है भ्रामरी प्राणाायाम, जो मानसिक एकाग्रता को बढ़ाने का अभ्यास है। ये पाँच आसन और तीन प्राणायाम, इतना करने में आपको बीस मिनट या आधा घंटा लगेगा। और बीच-बीच में जब थकान महसूस हो तब शवासन का अभ्यास कर लेना चाहिए।

आसन और प्राणायाम के अभ्यासों का यह जो समूह है, उससे हम शरीर, मन, मस्तिष्क और प्राण को संतुलित करने में सक्षम हो जाते हैं। इसके पश्चात् थोड़ा जप और ध्यान का अभ्यास होना चाहिए। जप में अजपाजप को करना आवश्यक है, क्योंकि जप के पीछे भी एक वैज्ञानिक भूमिका है, सिद्धान्त है। जप केवल ईश्वर-स्मरण नहीं, बल्कि अपनी चेतना को सूक्ष्म बनाने की एक प्रक्रिया है। जब हमारी चेतना, हमारी बुद्धि सूक्ष्म बनती है, तभी आंतरिक प्रतिभा का विकास होता है। बहुत बार लोग आते हैं, कहते हैं, 'स्वामीजी, हम तो इतने सालों से जप करते आ रहे हैं, लेकिन आज तक अपने आपको केन्द्रित नहीं कर पाए हैं, मन भागता ही रहता है।' इसका एक ही उपाय है – अजपाजप।

अजपाजप के अभ्यास में तीन बिन्दुओं को जोड़ा जाता है। पहला बिन्दु है, श्वास पर अपने मन को एकाग्र करना। दूसरा बिन्दु है, मंत्र के शब्द, मंत्र की ध्वनि, या मंत्र के उच्चारण पर अपने मन को केन्द्रित करना। और तीसरा बिन्दु है, एक प्रतीक पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना। जब इन तीनों को हम एक साथ कर सकें, तभी हमारा ध्यान पूर्ण होता है। नहीं तो केवल माला जपने या मंत्र का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं। वह तो एक यांत्रिक प्रक्रिया बन जाती है। मंत्र अगर यंत्रवत् चले, तो खोपड़ी में परिवर्तन संभव नहीं है। फिर तो वही मशीनीकरण हो जाता है हमारे जीवन का, हमारे मन का, हमारी बुद्धि का, और कुछ लाभ नहीं होता। इसलिए अजपाजप के अभ्यास में सबसे पहले यह प्रयास हो कि हम अपने शरीर को शान्त और स्थिर बना लें।

स्थिर का यह अर्थ नहीं कि हम जबरदस्ती पद्मासन लगा कर बैठ जाएँ। पूरा पैर दर्द दे रहा हो, जकड़ रहा हो, मांसपेशियाँ जकड़ रही हों, और हम हठपूर्वक बैठे रहें कि हमें तो जप करना ही है। नहीं, यह ठीक नहीं। आराम

के आसन में बैठना है, क्योंकि अंत में अपने मन को शरीर की चेतना से तो अलग करना ही पड़ेगा न? तो ऐसे आसन में बैठो, जिसमें स्थिरता भी रहे और कष्ट भी न हो। अगर सुखासन में बैठते हो, तो वह उचित है। सिद्धासन में बैठते हो, तो वह भी ठीक है। पद्मासन लगा सकते हो, तो उत्तम है। वज्रासन में बैठते हो, तो बहुत अच्छी बात है। चाहे जो आसन हो, उसमें तनाव नहीं होना चाहिए। आसन में बैठकर सबसे पहले मन को अपने भीतर केन्द्रित करना है। इसको कहते हैं, प्रत्याहार की स्थिति। आपने कछुए को तो देखा होगा। उसके कौन-से अंग बाहर निकले होते हैं? दो हाथ, दो पैर और एक खोपड़ी – ये पाँच अंग बाहर निकले रहते हैं। हम भी कछुए के सदृश हैं। हमारे भी पाँच अंग काम करते हैं और ये हैं पंच ज्ञानेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही हम अनुभवों को ग्रहण करते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों को अपने भीतर समेटना है, ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को अपने भीतर समेटना है।

जिस प्रकार से कछुआ अपने कवच के भीतर अपने हाथ, पैर और खोपड़ी को समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार से जप करने के पहले प्रत्याहार की स्थिति का आना आवश्यक है। प्रत्याहार की इस अवस्था को हम लाते हैं श्वास पर अपने ध्यान को केन्द्रित करके। मैं श्वास ले रहा हूँ, मैं श्वास छोड़ रहा हूँ, इस प्रकार का ज्ञान होना चाहिए, इस प्रकार की अनुभूति होनी चाहिए। धीरे-धीरे जब देखते हैं कि अब हमारा मन चंचल नहीं रहा, श्वास पर केन्द्रित हो रहा है, तब श्वास के साथ मंत्र को जोड़ा जाता है।

अजपाजप का मंत्र है 'सोऽहं'। श्वास लेते समय 'सो' मंत्र का मानसिक उच्चारण होना चाहिए। श्वास छोड़ते समय 'हं' मंत्र का मानसिक उच्चारण होना चाहिए। और मंत्र के साथ खिलवाड़ नहीं करना, क्योंकि योग में जो मंत्र होते हैं, वे धार्मिक मंत्र नहीं होते। उनका संबंध हमारे शरीर के भीतर स्थित गुप्त चक्रों के साथ होता है। अपनी बुद्धि को भी मंत्र के साथ कभी नहीं लगाना चाहिए। बहुत-से लोग, जो संस्कृत के विद्वान् हैं, कहते हैं – 'सोऽहं का अर्थ होता है 'मैं वह हूँ।' अरे! मैं कौन हूँ?' लेकिन वास्तविक रूप से हमारे आंतरिक जीवन में 'सोऽहं' का संबंध उसके अर्थ से नहीं, बल्कि ध्वनि से रहता है। मानसिक रूप से, या मौखिक रूप से हम जो उच्चारण कर रहे हैं, उससे रहता है। वह ध्वनि, वह शब्द एक स्पंदन को जन्म देता है, और वह स्पंदन ही हमारे जीवन के विभिन्न आयामों को परिवर्तित करता है। आप संगीत के बारे में तो जानते हैं न? अगर 'रॉक एण्ड रोल' म्यूज़िक यहाँ बजने लगे

तो शरीर के भीतर एक प्रतिक्रिया होगी। उत्तेजना की अनुभूति होगी। अगर शास्त्रीय संगीत बजने लगे, तो पूरा शरीर, मन और बुद्धि शान्त हो जाएँगे। चंचलता समाप्त हो जाएगी।

पाश्चात्य देशों में इस पर बहुत-से शोध किए गए हैं कि हर शब्द, हर ध्वनि का एक रूप होता है, एक तरंग होती है। मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। अगर हारमोनियम बजाते समय उसके ऊपर एक कागज में सूक्ष्म रेत के कणों को रख दें, और एक स्वर को बजाएँ, तो आप देखेंगे कि ध्वनि से, स्पंदन से वह रेत एक आकृति को ग्रहण कर लेती है।

मंत्र को जब हम दोहराते हैं, उच्चारण करते हैं, तो जो स्पंदन उत्पन्न होता है वह हमारे चक्रों को जाग्रत करता हुआ हमारे व्यक्तित्व में एक परिवर्तन ले आता है। चाहे कोई भी मंत्र हो। योग में धार्मिक मंत्र नहीं होते। योग में मात्र शक्ति मंत्र होते हैं। योग में 'ॐ नम: शिवाय' का अर्थ 'मैं शिवजी को नमस्कार करता हूँ' नहीं होता। ॐ नम: शिवाय का संबंध रहता है विभिन्न प्राण केन्द्रों के साथ, जिन्हें हम चक्र कहते हैं। 'ॐ', 'न', 'म', 'शि', 'वा', 'य' – ये अक्षर एक-एक चक्र को स्पंदित करते हैं। जैसे 'ॐ' आज्ञा चक्र का मंत्र है, यह आज्ञा चक्र को स्पंदित करता है। अगर आप कुण्डलिनी योग का अध्ययन करेंगे तो उसमें देखेंगे कि हर चक्र की पंखुड़ियों पर एक अक्षर, एक मंत्र लिखा हुआ है। पंखुड़ियों पर जो अक्षर लिखे हैं, उन्हीं के समूह को हम अलग-अलग मंत्रों के नाम से जानते हैं। आप चित्र में खोज सकते हैं कि 'नम: शिवाय' किन चक्रों से संबंध रखता है। मालूम पड़ जाएगा कि आपके वे चक्र जाग्रत होने वाले हैं।

अजपाजप के अभ्यास में श्वास के साथ अपने मन को केन्द्रित करके मंत्र का उच्चारण किया जाता है। श्वास लेते समय उसे नाभि क्षेत्र से ऊपर की ओर चढ़ते देखते हैं। हमने श्वास खींची, श्वास नाभि से ऊपर की ओर चढ़ी। हमने श्वास छोड़ी, वह भ्रूमध्य से या कण्ठ से नाभि तक नीचे आयी। इसी में मंत्र को जोड़ा जाता है। श्वास लेते समय और फिर छोड़ते समय मंत्र का उच्चारण करते हैं। यह प्रत्याहार की दूसरी स्थिति है, जिसमें इन्द्रियों को समेटकर हम मानसिक क्षमताओं को एक स्पंदन में, एक ध्वनि में, एक तरंग में केन्द्रित कर रहे हैं। और फिर भी मन चंचल रहे तो भ्रूमध्य में एक प्रतीक को देखा जाता है। उस पर ध्यान को एकाग्र किया जाता है। चाहे वह प्रतीक निराकार हो या साकार। अगर आपके इष्ट देव या इष्ट देवी हैं, अगर कोई

आराध्य हैं, अगर आपके कोई गुरु हैं, जिन पर अपने चित्त को एकाग्र करने से आप अपने आंतरिक जीवन में कुछ अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, तो उस मूर्ति पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। श्वास, मंत्र और प्रतीक, इन तीनों के समन्वय को हम लोग प्रत्याहार और धारणा की अवस्था मानते हैं।

अजपाजप के अभ्यास में हम योग के इन विभिन्न अंगों से गुजरते हैं। एक स्वस्थ, सामान्य व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए इतने ही अभ्यास पर्याप्त हैं। सौ आसन करने से कोई विशेष लाभ नहीं। अगर आप इन चुने हुए अभ्यासों को नित्यप्रति करते हैं तो शीघ्र ही आपको लाभ होगा तथा अपने जीवन में अच्छे परिवर्तन दिखलाई देंगे।

यह तो रही दैनिक कार्यक्रम की बात। इसके अतिरिक्त अगर और कुछ करना चाहें, तो आप ध्यान के अभ्यास कर सकते हैं। और ध्यान के अभ्यास में पहला अभ्यास होना चाहिए त्राटक का। दूसरा अभ्यास होना चाहिए अन्तर्मौन की क्रिया का। इन दोनों से बहुत लाभ मिलेगा।

क्या योग से सभी असाध्य बीमारियों का ईलाज संभव है? यदि हाँ, तो उन्हें किस समय करना उचित होगा?

अभी तक जो आँकड़े हमें प्राप्त हुए हैं तथा जो अनुसंधान देश-विदेश में चल रहे हैं, उनसे हम यह अनुमान लगा रहे हैं, और प्रत्यक्ष भी देख रहे हैं कि जो मनोकायिक रोग हैं, जिनकी शुरुआत मन से होती है, और अन्त में वे शरीर को प्रभावित करते हैं, उनका निदान योग द्वारा अवश्य संभव है। सच पूछा जाए तो हम संसार में केवल दो प्रकार के लोगों को देखते हैं। एक समूह है बीमार, और दूसरा समूह है स्वस्थ। संसार में जो भी चिकित्सात्मक पद्धतियाँ हैं, चाहे होम्योपैथी हो, आयुर्वेद हो, एलोपैथी हो, नेचुरोपैथी हो या अन्य कोई पद्धति हो, उनका उद्देश्य रहता है रोग का इलाज करना, तथा वे एक ही समूह के लोगों का इलाज करती हैं।

ये जो दो प्रकार के लोग हैं, इनमें से एक प्रकार के लोगों की आवश्यकता है चिकित्सा, जबकि दूसरी ओर जो स्वस्थ लोग हैं, उन्हें किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं, और न ही योग की आवश्यकता है। लेकिन ऐसा देखने में आता है कि जब हम योग का प्रयोग शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए करते हैं, तब इसका प्रभाव हमारे व्यक्तित्व के सभी स्तरों पर पड़ने लगता है। केवल शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक

नहीं, बल्कि व्यक्तित्व के सभी अंग योग से प्रभावित होते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हम योग के द्वारा रोग का निदान ही नहीं, बल्कि रोगी को ठीक करते हैं, और जब रोगी ठीक होने लगता है तब रोग अपने आप ही दूर हो जाता है।

इस प्रकार योग न बीमारों के समूह में आता है, और न ही स्वस्थ लोगों के समूह में। यह बीच में आता है, जहाँ से आप अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं का और अधिक विकास कर सकें, तथा जिस अव्यवस्था या व्याधि से आप शारीरिक और मानसिक रूप से पीड़ित हैं, उसे दूर कर सकें। योग यहीं से आरम्भ होता है।

योग का तो हमेशा यह सिद्धान्त रहा है कि मनुष्य ही अपने जीवन को, अपने शरीर और मन को बिगाड़ता है, और इसके पश्चात् रोग उत्पन्न होते हैं। लेकिन मनुष्य के भीतर यह क्षमता है कि वह अपने भीतर उत्पन्न अव्यवस्था को, रोग को स्वयं ही दूर कर सके। अगर हम अपने शरीर को बिगाड़ते हैं, तो हमारे भीतर वह शक्ति भी है कि हम अपने आपको ठीक कर सकें। इसी सिद्धान्त को योग अपनाकर चला है, और इस सिद्धान्त के कारण ही योग को चिकित्सा के क्षेत्र में शत-प्रतिशत सफलता मिली है। लेकिन योग में यह आवश्यक है कि हम स्वास्थ्य-सम्बन्धी और अभ्यास-सम्बन्धी नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करें। अगर नियमों का पालन नहीं हो सकता, तो रोग का निदान भी नहीं होगा। ऐसा नहीं कि आज यहाँ पर सम्मेलन हो रहा है, चलो, चार दिन हम भी योगाभ्यास कर लें और चार दिन में ठीक हो जाएँगे।

योग कोई जादुई-विज्ञान नहीं कि एक बार कर लेने पर हम हमेशा के लिए ठीक हो जाएँ। योग एक ऐसा विज्ञान है जो हमारे पुरुषार्थ को जाग्रत करता है, जो हमारी क्षमता को जाग्रत करता है, और इसके माध्यम से हम स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करते हैं। चाहे दमा हो, मधुमेह हो, कैंसर हो, गठिया हो, वात रोग हो, पित्त रोग हो, या अन्य कोई बीमारी हो, हम योग द्वारा बतलाए गए अनुशासन के मार्ग पर चलकर इनसे मुक्ति पा सकते हैं।

योग के कुछ सामान्य नियम भी होते हैं। इनमें एक नियम है कि अभ्यास हमेशा खाली पेट हो, भोजन करने के बाद नहीं। खाली पेट हमलोगों का रहता है सबेरे, क्योंकि दिन में तो इस कुएँ में हम हमेशा कुछ-न-कुछ डालते रहते हैं। कभी चाय पीते हैं, तो कभी एक बिस्कुट खा लेते हैं, तो कभी नमकीन खा लेते हैं। नहीं, कुआँ खाली रहना चाहिए। सुबह अपनी दैनिक क्रियाओं

से निवृत्त होकर, शरीर को शुद्ध करके योगाभ्यास किया जाता है। इसीलिए योग के विषय में कहा जाता है कि ब्रह्ममुहूर्त इसका सबसे अच्छा समय है। ब्रह्ममुहूर्त का निर्देश दिया गया, ताकि पेट खाली रहे, वातावरण शुद्ध और शान्त रहे, शोर न हो, मन चंचल न रहे, और दिन भर की जो थकान है, तनाव हैं, उनसे मुक्ति मिल चुकी हो।

योग का दूसरा नियम होता है, पुस्तक पढ़कर कभी नहीं करना। उसकी गारंटी हम लोग नहीं लेते। केवल पुस्तक पढ़कर आप डॉक्टर बन सकते हैं क्या? नहीं। निर्देशक की आवश्यकता पड़ती है और योग में निर्देशक की आवश्यकता इसलिए रहती है कि हम अपने शरीर को जानते नहीं हैं। हम यह नहीं जानते कि हमारे व्यक्तित्व के लिए, या हमारी शारीरिक क्षमता और अवस्था के अनुरूप कौन-सा अभ्यास उचित रहेगा। इसलिए योग का अभ्यास योग्य शिक्षक के निर्देशन में ही करने की सलाह दी जाती है। टी.वी. में देखकर योग सीखने का तरीका ठीक नहीं है। योग सीखने का सही तरीका होता है, किसी योग्य योग शिक्षक के पास जाना। गुरु-शिष्य परम्परा तो जानते हैं न? गुरु-शिष्य परम्परा व्यक्तिगत संपर्क से शुरू होती है। योग में इस परम्परा का निर्वाह करना आवश्यक है। एक जानकार व्यक्ति से ही योग की शिक्षा लेना, यह योग का दूसरा विशेष नियम है। और स्वास्थ्य सम्बन्धी जो अन्य नियम बतलाए जाते हैं, उनका पालन करना भी आवश्यक है।

दौरे पर, या घर से बाहर, या किसी विवाह समारोह में किस प्रकार योग किया जा सकता है?

आप दौरे पर हों, या किसी विवाह में सम्मिलित हो रहे हों, तो उसमें न हठयोग काम करता है, न राजयोग, न भक्तियोग। उस समय केवल एक योग काम करता है; और वह है, समझौते का योग, सामंजस्य का योग। अगर समझौते का योग भी काम न करे, तो 'सामान्य ज्ञान योग' काम करता है। यह तो आपको स्वयं ही निश्चित करना पड़ेगा।

ॐ मन्त्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए? और हमें प्रतिदिन कितना योगाभ्यास करना चाहिए?

अपनी चेतना को भ्रूमध्य में केन्द्रित करके ॐ मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। भ्रूमध्य में एक जलती हुई ज्योति की कल्पना करते हुए, उसके

प्रकाश पर अपने ध्यान को केन्द्रित करके, श्वास को अपने नियंत्रण में रखते हुए मंत्रोच्चारण होना चाहिए। इस मंत्रोच्चारण के पश्चात् बिना हिले-डुले पाँच मिनट तक चुपचाप बैठे रहना चाहिए। शारीरिक तथा मानसिक रूप से एकदम स्थिर, और जिस प्रकार से शरीर मूर्तिवत् स्थिर रहता है, ठीक उसी प्रकार से अपने मन को शान्त, स्थिर और केन्द्रित बनाकर रखना है। शरीर में हलचल नहीं, मन में हलचल नहीं, विचारों को रोक दो, उनसे कह दो कि तुम तो दिन भर आते ही हो, इन पाँच मिनटों के लिए मत आओ। और उस स्थिर तथा शान्त अवस्था में अपने शरीर को भूल जाना। अनुभव करना कि मैं मात्र आकाश हूँ। एक गुब्बारे को फुलाते हैं तो उसके भीतर क्या रहता है? हवा। और उसके चारों तरफ क्या है? हवा। कबीर दास जी कहते हैं –

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
फूटहि कुंभ जल जल ही समाना, बात कहे यह ज्ञानी ॥

बस, यही विचारधारा है, जिसको ध्यान के इन पाँच मिनटों के दौरान अनुभव करने का प्रयत्न होना चाहिए। मैं खाली हूँ। अन्दर खोखला हूँ, न पेट है, न हृदय है, न फेफड़े हैं, न और कुछ है। अनुभव करो कि शरीर एक गुब्बारे की तरह हवा से भरा हुआ है, और इस शरीर के चारों तरफ हवा ही है। आकाश तत्त्व है। विचारशून्यता की स्थिति आनी चाहिए। उसके पश्चात् इच्छा हो तो और बैठे रहना। बैठने की इच्छा न हो तो चुपचाप बिस्तर पर लेट जाना और लेटकर पन्द्रह मिनट के लिए योगनिद्रा का अभ्यास कर लेना। आधा घंटा सबेरे और आधा घंटा शाम, अगर इतना ही योगाभ्यास हम नियम से कर पाते हैं, तो जीवन में परिवर्तन अवश्य होगा। विश्वास न हो तो एक महीना आजमाकर देख लीजिए। आपकी विचारधारा में परिवर्तन होगा, व्यवहार में परिवर्तन होगा, दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा।

आजकल बहुत-से विचार उठते हैं कि मनुष्य को अपना सर्वांगीण विकास करना चाहिए। और हम किसी विचारधारा को लेकर भिड़ जाते हैं अपने जीवन का सर्वांगीण विकास करने के लिए। लेकिन गलत तरीके से करते हैं। बुद्धि का मतलब लगाते हैं कि अपनी खोपड़ी को किताबी ज्ञान से भर दो। यही होता है न? हम बुद्धि के विकास का अर्थ लगाते हैं – पढ़ते रहो, पढ़ते रहो। अरे! बुद्धि का विकास तो हमसे ज्यादा एक तोते का है, जिसको एक बार रटा देने

से वह हमेशा के लिए याद रखता है। हम लोग रट कर भी किसी चीज को याद नहीं रख पाते।

सर्वांगीण विकास का तरीका है, सबसे पहले यह समझना कि मनुष्य के जीवन में भावना, बुद्धि तथा कर्म, तीनों प्रधान हैं। और इन तीनों को साथ लेकर चलना है। अगर हम कर्म के द्वारा ही अपने जीवन का विकास करना चाहें, तो संभव नहीं है। बुद्धि अविकसित रह जाएगी। भावना अविकसित रह जाएगी। अगर भावना का विकास करते हो, और सोचते हो कि मैं सभी के प्रति करुणा, प्रेम और दया के भाव को जाग्रत करूँ, लेकिन कर्म उस प्रकार के न हों तो फायदा ही क्या? और विद्वान होने के पश्चात् भी अगर स्वार्थपूर्ण विचारों में, कर्मों में परिवर्तन न आए, तो विवेक की बात क्यों करना? अगर सकारात्मक कर्म नहीं कर सकते हो तो निष्काम कर्म की बात क्यों करना? अगर स्वार्थमय जीवन बिताते हो, तो नि:स्वार्थ जीवन की बात क्यों करना? यह तो स्वयं को धोखा देना है। सर्वांगीण विकास के लिए आज तक हमने इसी पद्धति को अपनाया है। बुरा मत मानना, मैं सच बोल रहा हूँ। अगर आप अपने जीवन की इस कमजोरी को नहीं देखना चाहते, तो कम-से-कम दूसरों के जीवन में इस चीज को देख कर समझ लीजिए बात को। हर व्यक्ति के जीवन में यही स्थिति है। योग इसका उपाय बतलाता है कि कर्म-शक्ति, भावनात्मक-शक्ति तथा बौद्धिक-शक्ति, तीनों का विकास एक साथ हो। लेकिन विकास के पूर्व स्वयं को चेतना की एक ऐसी स्थिति में ले आओ जहाँ पर ग्रहणशीलता हो, एकाग्रता हो, विक्षिप्तता न हो, नासमझी न हो, अज्ञान न हो, तनाव न हो, निद्रा न हो।

जो कार्यक्रम हमने आपको बतलाया, उसे एक महीना नियमित रूप से, अनुशासन के रूप में प्रयोग करके देखिए। जिस प्रकार सभी परिस्थितियों में शौच जाने का समय निकाल लेते हैं, गप लगाने के लिए समय निकाल लेते हैं, ठीक उसी प्रकार हर परिस्थिति में योग करने के लिए भी समय निकाल लेना चाहिए। और तब जो परिवर्तन होगा, वह हमारे जीवन को सही दिशा में ले जाएगा। यही योग हमने अपने गुरुजी से सीखा है, और उनके जीवन में इन तीनों का बहुत ही सुन्दर समन्वय देखा है। ऐसे गुरुजी के सामने हम सब नतमस्तक हैं।

विवेक और वैराग्य–मानव जीवन के दो पंख

आज का दिवस अत्यन्त शुभ और पवित्र है। जिस प्रकार से हम लोग शरीर को शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए प्रतिदिन प्रातः स्नान करते हैं, उसी प्रकार आज भगवत् अनुकम्पा तथा प्रेरणा से हम लोग इस योग सभा में बैठकर ईश्वर प्रदत्त आशीर्वाद को ग्रहण करके आत्मशुद्धि को प्राप्त कर रहे हैं। यह आप लोगों की सद्भावना, उत्साह, प्रेम तथा योग के प्रति स्नेह का प्रतीक है कि वर्षा की इस विषम परिस्थिति में भी आप यहाँ पर रुक गये।

ऐसी ही परिस्थितियों का सामना हमें अपने जीवन में करना पड़ता है, लेकिन जीवन में जब इस प्रकार की विषम परिस्थितियाँ आती हैं, तब हम भाग खड़े होते हैं, उनका सामना नहीं कर पाते। यह हमारे जीवन में आत्म-शक्ति की कमी का द्योतक है। अगर जीवन में आत्म-शक्ति, संकल्प-शक्ति और इच्छा-शक्ति प्रबल रहें तो मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

योग का मनोवैज्ञानिक पक्ष

हमारे भीतर इस शक्ति को जाग्रत करना योग के मानसिक पक्ष का उद्देश्य है। योग का एक विशाल पक्ष मनोवैज्ञानिक तथा मानसिक है। इस विशाल पक्ष को समझने के लिए हमें एक छोटी-सी बात को ही जानना पड़ता है कि अपने मन को सबल और स्वस्थ बनाने के लिए, उसे आरोग्य प्रदान करने के लिए, केवल सकारात्मक और संतुलित विचारों को ही अपने भीतर स्थान देना है। बात है तो बहुत छोटी, लेकिन इसके पीछे एक बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है।

हम किस प्रकार अपने भीतर एक संतुलित और सकारात्मक विचार को जन्म दें? आपको यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि अगर हम किसी ओर आकृष्ट होते हैं, तो यह आकर्षण विषयों की तरफ ही रहता है। विषयों का चिन्तन करते हैं, तो इसके पीछे भी विषयों के प्रति आकर्षण है। अगर कोई कर्म करते हैं, तो वह भी विषयों के प्रति आकर्षण द्वारा प्रेरित रहता है।

यह तो कहना सरल है कि मन में सकारात्मक विचार को उत्पन्न करो, लेकिन इतना ही कह कर योग चुप नहीं रहता। वह तरीका बताता है कि किस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए हम सकारात्मक, सृजनात्मक एवं संतुलित विचारों को जन्म दे सकते हैं। बचपन से ही हमलोगों को शिक्षा के रूप में कहा जाता है कि बच्चों, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, किसी की निन्दा मत करो, लेकिन फिर भी इस शिक्षा को हम लोग ग्रहण नहीं करते। आप यह नहीं कहना कि बचपन की इस शिक्षा को हमलोगों ने अपने जीवन में ग्रहण किया है, क्योंकि आपकी जीवन-पद्धति, आपके जीवन-कर्म दूसरे प्रकार का परिचय दे रहे हैं। इसके पीछे एक ही कारण है कि हमें तरीका नहीं बतलाया गया कि अगर झूठ नहीं बोलना है, तो सत्य कैसे बोलें? अगर चोरी नहीं करनी है, तो उसके लिए क्या करें? अगर हिंसा नहीं करनी है, तो अहिंसा का मार्ग किस तरह अपनायें?

मैं आपको एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ कि सामान्य रूप से इन सब विचारों को हम दार्शनिक विचारधारा के रूप में ही ग्रहण करते हैं, व्यावहारिक विचारधारा के रूप में नहीं। अगर हमें कहा जाए कि बेटा, तुम हिंसा मत करो, तो उसका मतलब हम लोग लगाते हैं कि किसी को चोट नहीं पहुँचाना, चोट भी शारीरिक। लेकिन योग में अहिंसा का मतलब होता है, व्यक्तित्व से हिंसा को हटा देना। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी आसक्ति रहित होकर, मन, वाणी और बुद्धि से आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं–

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिन: कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥5.11॥

इस श्लोक में हमें एक सरल उपाय दिखायी देता है, जिसके द्वारा हम अपने व्यक्तित्व और विचार में इस प्रकार का परिवर्तन ला सकते हैं।

किसी विचार की उत्पत्ति अकेले नहीं होती। एक विचार के पीछे अनेक कड़ियाँ होती हैं। सबसे पहले एक कल्पना होती है, कल्पना से इच्छा उत्पन्न

होती है, इच्छा से विचार उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् उसे कार्यान्वित करने के लिए एक योजना का जन्म होता है, और योजना के बाद कर्म होता है। यह क्रम है, प्रक्रिया है।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्था में एक विचार का जो बीज पड़ता है, जो विचार अंकुरित होता है, वह बाद में कर्म के रूप में दिखायी देता है। यह कर्म शारीरिक और भौतिक ही नहीं होता। चेतना और व्यक्तित्व की क्रियाशीलता का नाम कर्म है। कर्म मात्र शरीर या बुद्धि या भावना या मन से नहीं होता, सम्पूर्ण व्यक्तित्व कर्म का क्षेत्र है। योग कहता है कि मनुष्य हाथ, हृदय तथा मस्तिष्क के गुणों द्वारा निर्मित है। मस्तिष्क का गुण है 'बुद्धि', हृदय का गुण है 'भावना' और हाथ का गुण है 'कर्म'। अब आप सोच लीजिए कि अगर हमारे व्यक्तित्व के ये तीन प्रमुख अंग हैं तो इन तीनों को एक साथ लेकर चलना पड़ेगा। हम अपने विचारों को भावना और कर्म से अलग नहीं कर सकते। हम अपने कर्म को बुद्धि और भावना से अलग नहीं कर सकते।

लेकिन सामान्य रूप से यही होता है कि हम एक पक्ष को लेकर ही आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। अगर हम इन्द्रियों के प्रति सजग होते हैं, तो मात्र इन्द्रिय-कर्मों को देखते हैं। अगर हम आपको कहें कि मन की क्रिया के प्रति सजग हो जाइए, तो सबसे पहले आप अपने विचारों को देखने लगेंगे, क्योंकि मानसिक क्रिया के रूप में हमारे विचार ही हमारे सामने हैं। शारीरिक क्रिया के रूप में इन्द्रिय अभिव्यक्ति हमारे सामने है। अगर हम एक अवस्था में ही पूर्णता हासिल करने का प्रयास करेंगे तो वह अधूरी ही रहेगी। उस अवस्था को सर्वांगीण विकास नहीं कहा जा सकता।

विचार संयम

इसीलिए हम कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर को आरोग्य प्रदान करने के लिए हमें कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है, जिसमें प्रमुख है आहार-संयम, ठीक उसी प्रकार मन को आरोग्य प्रदान करने के लिए एक विशेष नियम का पालन करना पड़ता है, जो है 'विचार-संयम।' विचार-संयम ही हमलोगों का प्रमुख विषय है। विचारों का रूप क्या है? अगर आप लोग कुछ क्षणों के लिए यह सोचें कि हमारे विचार का स्वरूप क्या है, तो कुछ लोग कहेंगे कि जब हम सोचते हैं तो अपने विचारों को अपने सामने लिखित रूप में देखते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि हम अपने विचारों को एक दृश्य के रूप में देखते हैं; पर्वत,

नदी, जंगल इत्यादि देखते हैं तब हमें यह ज्ञान होता है कि यह पर्वत है, यह नदी है, यह जंगल है। अर्थात् दृश्य पहले और उसकी बौद्धिक अभिव्यक्ति बाद में। कुछ लोग कह सकते हैं कि बौद्धिक अभिव्यक्ति पहले, कल्पना बाद में। हर व्यक्ति अलग-अलग रूप से विचारों का विश्लेषण करेगा, लेकिन विचार मात्र इन्द्रिय अभिव्यक्ति के सूक्ष्म रूप हैं। वास्तव में देखा जाए तो इन्द्रियाँ पाँच नहीं, छः हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठनीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥15.7॥

इससे मालूम पड़ता है कि मन को भी एक इन्द्रिय के रूप में देखा गया है। मन के भी दो अंग होते हैं। मैं आपको गैर पारम्परिक तरीके से समझा रहा हूँ। जिस प्रकार से पाँच इन्द्रियों के दो रूप होते हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, ठीक उसी प्रकार मन के भी दो रूप होते हैं।

मन का एक रूप है 'कर्म' और दूसरा है 'ज्ञान'। इन्हें मन-कर्मेन्द्रिय और मन-ज्ञानेन्द्रिय भी कहा जा सकता है। हमारे जीवन में मन के ये दो रूप होते हैं। मन-कर्मेन्द्रिय प्रेरणा है। बिना प्रेरणा के मन शिथिल है, कार्य नहीं कर सकता। यह आंतरिक प्रेरणा या मन-कर्मेन्द्रिय बाह्य जगत् से, बाह्य कर्म से सम्बन्ध रखती है; तथा मन की जो ज्ञानेन्द्रिय है, वह ज्ञान को ग्रहण करती, परिस्थिति को देखती और पहचानती है। परिस्थिति के अनुसार जब कर्म होता है तब वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए योग शास्त्रों तथा भारतीय दर्शनों में इस बात पर जोर दिया गया है कि अगर मन को संयत करना हो, अपने नियंत्रण में लाना हो तो उसके लिए नितान्त आवश्यक है कि अपने जीवन में वैराग्य-भाव को उत्पन्न किया जाए।

विवेक और वैराग्य

अपरोक्षानुभूति में आदिगुरु शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार एक पक्षी के दो पंख होते हैं, जिनके द्वारा वह उड़ान भरता है, ठीक उसी प्रकार मानव जीवन के दो अंग होते हैं। एक को कहते हैं 'विवेक' और दूसरे को 'वैराग्य'। इन दोनों को समझना है, तभी हम अपने जीवन में सकारात्मक विचार को जन्म दे पायेंगे, अन्यथा नहीं। इसमें हम लोग पहले वैराग्य और उसके बाद विवेक को देखेंगे।

वैराग्य क्या है? राग की विपरीत अवस्था। योग सूत्रों में कहा गया है – *सुखानुशयी रागः*। सुख के प्रति आकर्षण राग है। सुख, शान्ति, आनन्द और स्वार्थपूर्ति हेतु हम जो करते हैं, उसके पीछे एक आकर्षण रहता है। इसी को शास्त्रों में कहा गया है, फलाकर्षण, फल के प्रति आकर्षण होना। परिणाम चाहना या फल की इच्छा रखना राग है। वैराग्य का अर्थ होता है विराग, अर्थात् राग-रहित होना, मन की वह अवस्था जहाँ पर आकर्षण न हो।

राग के विपरीत भाव के बारे में योग सूत्रों में कहा जाता है – *दुःखानुशयी द्वेषः*। यहाँ पर द्वेष का अर्थ होता है, विकर्षण। आकर्षण और विकर्षण जीवन के वास्तविक सत्य हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। जो इन्हें समझने का प्रयत्न नहीं करता, वह अज्ञानी है। जीवन में, विचारों में, कर्मों में, भावनाओं में हर प्रकार के राग की स्थिति उत्पन्न होती है। जिसे हम लोग प्रेम या पसन्द या कामना या वासना या लालच कहते हैं, वह राग है। जहाँ पर इसकी विपरीत अवस्था आती है, जहाँ पर मनमुटाव हो जाता है, जहाँ पर अनिच्छा होती है, वहाँ पर द्वेष है। द्वेष का मतलब यहाँ घृणा नहीं, बल्कि अनिच्छा या विकर्षण की स्थिति है।

राग और द्वेष दो चुम्बक हैं, जिनके बीच हमारा मन कभी इधर तो कभी उधर भटकता रहता है। जब कभी राग की ओर आकृष्ट होता है, उस समय कामनापूर्ण और इच्छापूर्ण विचार उत्पन्न होते हैं। वे विचार हमारे जीवन और कर्मों को एक दिशा देते हैं। जब द्वेष होता है, तब उस समय विकर्षणपूर्ण विचार उत्पन्न होते हैं, जो हमारे जीवन और कर्मों को एक दूसरी दिशा प्रदान करते हैं।

अतः सबसे पहले एक विधि के द्वारा हमें यह निश्चित करना है कि किस प्रकार हम राग की अवस्था से हटकर वैराग्य की अवस्था को प्राप्त करें। वैराग्य राग का प्रतिवाद नहीं है, क्योंकि यदि राग का प्रतिवाद हो जाए तो वह द्वेष है। यह राग का निषेध नहीं, मात्र एक अवस्था के प्रति सजगता है। और उस अवस्था से जो भावना, जो संस्कार, जो कर्म जुड़े रहते हैं, उन्हें थोड़ा अलग कर देना है। राग से थोड़ा हट जाना है, विकर्षण या द्वेष की तरफ नहीं जाना है। इसी को कहते हैं अनासक्त-भाव। राग का अर्थ होता है जोड़ना, और द्वेष का अर्थ होता है काट देना। जब हम बिजली की तारों को जोड़ते हैं तो उनमें टेप बाँधते हैं। तार तो जुड़े हैं, लेकिन जोड़ को मजबूत बनाने के लिए हम उसमें टेप बाँध देते हैं। वह स्थिति हो जाती है राग की। अगर हम

उन्हें अलग करना चाहें, तो जोड़ को पूरा खोलना पड़ता है, तारों को अलग करना पड़ता है, वह हो जाती है द्वेष की स्थिति। अनासक्त भाव होता है कि तार नजदीक रहें, उन्हें बाँधने की आवश्यकता न पड़े, और नजदीक रहते हुए भी दूरी बनी रहे।

भगवान् कृष्ण ने इसी अवस्था को समझाने के लिए कहा है कि जो कुछ तुम्हें मिले, उसे अनासक्त-भाव से ग्रहण करो। स्वयं की इच्छा मत रखो, क्योंकि जहाँ इच्छा आयेगी, वहाँ पर या तो राग होगा या द्वेष। इसलिए निश्छल भाव से, मात्र देखते रहना है कि हम किस ओर आकृष्ट हो रहे हैं, किस ओर से विकर्षण हो रहा है, और किस प्रकार हम इन दोनों के मध्य अपना सन्तुलन बनाये रख सकते हैं। इसी को कहते हैं वैराग्य। और वैराग्य की परिणति होती है विवेक में, क्योंकि अगर आप इतना देख सकते हैं, तो अज्ञान की स्थिति में तो नहीं देखेंगे। अगर अज्ञान है, तो इतना नहीं देख सकते – सीधी बात। यह जो बीच में रहकर देखने की क्षमता है, इसे कहते हैं विवेक या सही ज्ञान।

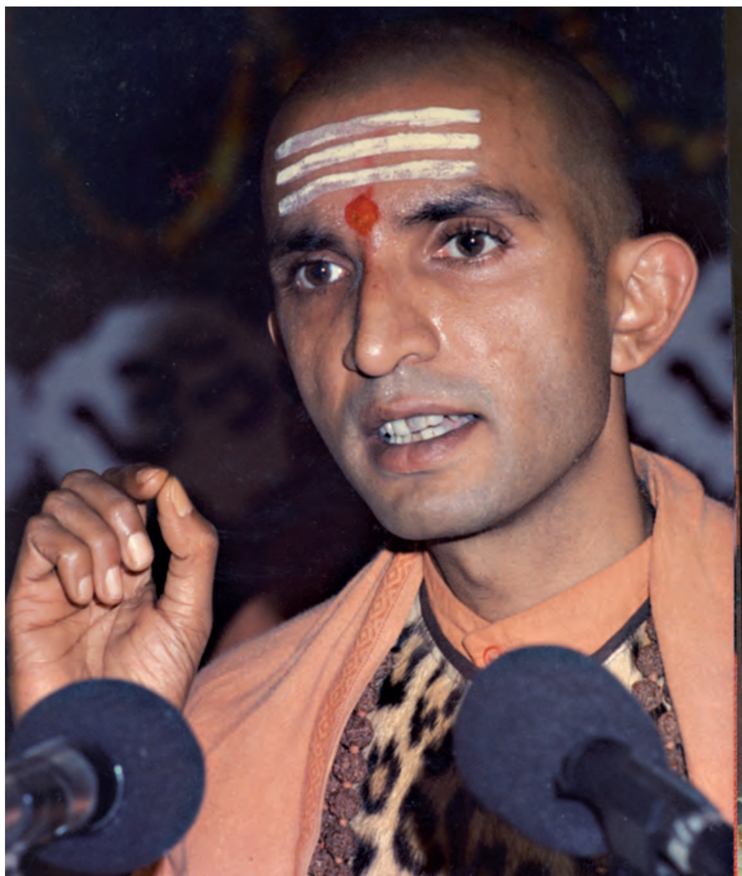
सजगता की भूमिका

सर्कस में हम लोग देखते हैं, रस्सी बँधी रहती है, और एक आदमी उस पर चलता है। वह अपने सन्तुलन को बनाये रखता है, न इस तरफ गिरता है, न उस तरफ। वह एक किनारे से दूसरे किनारे चला जाता है। यहाँ पर तो हमें एक करतब दिखायी दे रहा है, लेकिन इसके पीछे एक रहस्य है। पहली चीज, इतना सन्तुलन है कि वह डगमगाता नहीं, और दूसरी चीज, अपने सन्तुलन के प्रति वह पूर्ण रूप से सजग है, देखता रहता है कि कहीं मेरे पैर गलत स्थान पर न पड़ें। सन्तुलन और सजगता, ये उस करतब के पीछे रहस्य हैं। ठीक उसी प्रकार सकारात्मक विचार के पीछे जो रहस्य है, वह है वैराग्य। पहले तनाव रहित होना, और उससे जो ज्ञान अर्जित होता है, जिसे हम लोग विवेक कहते हैं, उसके अनुसार चलना। तभी सकारात्मक विचार उत्पन्न होते हैं।

विचारों को रोका नहीं जाता, जैसे कि बहुत लोग सोचते हैं। उन्हें आने देना चाहिए, लेकिन विचारों के प्रवाह में बहना नहीं है, क्योंकि विचार घोड़े के सदृश है, जिसपर लगाम लगाना जरूरी है। अगर बेलगाम घोड़े पर सवारी की जाए तो वह विचार रूपी घोड़ा कहाँ-से-कहाँ चला जाएगा, इसका कोई पता नहीं। लगाम लगाने की प्रक्रिया को ही योग की भाषा में 'संयम' कहते हैं।

इस अवस्था को प्राप्त करने का जो तरीका बताया जाता है, वह है सजगता, एकाग्रता और ध्यान का तरीका। यह समझना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बहुत लोग कहते हैं कि स्वामीजी हम तो ध्यान करते हैं, लेकिन मन नहीं लगता। अरे! मन क्यों नहीं लगता? इसलिए कि ध्यान को तुमने यान्त्रिक बना दिया है। ध्यान की प्रक्रिया को तुम यन्त्रवत् समझने लगे हो कि आँखें बंद कीं और मशीन चलने लगी, और हम भी उसके साथ चलने लगे।

ध्यान करने के पूर्व, सर्वप्रथम सजगता का होना अनिवार्य है। सजगता का तात्पर्य है – परिस्थिति, परिवेश और परिसर के प्रति जागरूकता। हमारे शरीर में क्या गुजर रहा है, हमारे मन की क्या स्थिति है, उसके प्रति जागरूक होना।



कुण्डलिनी योग

चेतना के मुख्य केन्द्रों को चक्र कहते हैं। हमारे शरीर के अन्दर छ: मुख्य चक्र हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा, जिन्हें षट्-चक्र भी कहा जाता है। ये चक्र चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं।

चक्रों का विवरण

मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्व से सम्बन्धित है। यह उस चेतना का द्योतक है, जिसमें हम वासना का अनुभव करते हैं। स्वाधिष्ठान चक्र जल तत्त्व का द्योतक है, और वह जल तत्त्व हमारे भीतर उन गुप्त तरंगों के अनुभव का परिचायक है, जो हम संस्कारों और कार्यों के रूप में करते हैं, जिसको मनोवैज्ञानिक भाषा में कहा जाता है – अचेतन मन या अचेतन प्रकृति। यह व्यक्तित्व का वह केन्द्र है, जहाँ पर सजगता की किरण पहुँच नहीं पाती, लेकिन जहाँ से हमारे जीवन के बीज पनपते हैं, अंकुर पनपते हैं, और वह वृक्ष बाद में दिखलाई देता है।

चेतन या स्थूल अवस्था में मणिपुर चक्र (नाभि के पीछे) अग्नि तत्त्व का प्रतीक है। यह अग्नि तत्त्व जीवनी-शक्ति या प्राणशक्ति है। यह जीवन की क्रियाशीलता है। अनाहत चक्र हृदय संस्थान के पीछे मेरुदण्ड में स्थित है। यह वायु तत्त्व का द्योतक है, शुद्ध एवं अशुद्ध भावनाओं का प्रतीक है। भावना एक ऐसी चीज है जहाँ पर मनोनियंत्रण नहीं रहता। इस बात को याद रखना। आवेश में किसी प्रकार का बौद्धिक या विचारात्मक नियंत्रण नहीं रहता और विवेक भी नहीं रहता। एक रस्सी देखकर हम उसे साँप समझने लगते हैं, दिल धड़कने लगता है, हृदय-गति अवरुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार क्रोध के आवेश में कुछ सूझता नहीं है।

एक बार श्री राम जी और हनुमान जी में बहस हो गयी। हनुमान जी ने कहा कि जब मैं लंका गया था, तब वहाँ पर जितने फूलों को मैंने देखा, वे सब लाल थे। राम जी ने कहा कि हो ही नहीं सकता। लंका तो स्वर्ण नगरी है, वहाँ पर लाल रंग के ही फूल कैसे होंगे? हर रंग के फूल रहे होंगे। हनुमान जी ने राम जी से कहा कि आपने तो कभी लंका में प्रवेश ही नहीं किया, आप कैसे जानते हैं? मैं जानता हूँ, मैंने तो सीता माता की खोज में पूरी लंका का भ्रमण किया, लंका को जलाया। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वहाँ सब फूल लाल थे। दोनों में बहस होने लगी। अन्त में सीता माता को मध्यस्थता करनी पड़ी। उन्होंने कहा लंका में तो हर प्रकार के फूल थे, लेकिन हनुमान जी की आँखें लाल हो गयी थीं क्रोध के कारण!

यह है क्रोध। क्रोध में विचार नियन्त्रण नहीं रहता, मनोनियन्त्रण नहीं रहता। वह एक ऐसी स्थिति है जहाँ एक अभिव्यक्ति का प्रवाह इतना प्रबल होता है कि मन और बुद्धि की सीमा नष्ट हो जाती है। और अगर वही भावना शुद्ध हो जाए तो समर्पण, प्रेम और करुणा में बदल जाती है। यह समर्पण भी बौद्धिक नहीं रहता।

एक दिन हमारे पास मुंगेर आश्रम में एक साधक आया। उसने कहा, 'स्वामीजी, मुझे कोई साधना बताइये। मैं अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित करता हूँ।' मैंने उससे पूछा, 'तुम क्या समर्पित करते हो?' उसने कहा, 'मैं आपको अपना शरीर अर्पित करता हूँ।' मैंने कहा कि कुछ और दो। वह बोला, 'मैं आपको मन भी अर्पित करता हूँ।' मैंने कहा, 'और कुछ दो।' उसने कहा, 'मैं आपको अपनी आत्मा भी अर्पित करता हूँ।' मैंने कहा, 'ठीक है, तीनों मिल गये, अब परीक्षा होगी।'

गर्मी का मौसम आया। उस व्यक्ति का आम का बगीचा था। मैंने एक स्वामी को मुंगेर नगर में उस व्यक्ति के पास भेजा और कहलाया कि भाई, तुम्हारे बाग के पेड़ों में आम फले हैं। एक झोले में आश्रम के संन्यासियों के लिए भेज दो। उस व्यक्ति ने स्वामी के हाथ सन्देश भेजा कि स्वामीजी से कह देना, मैं थोड़ी देर में आश्रम आ रहा हूँ। थोड़ी देर पश्चात् वह खाली हाथ आया। मैंने पूछा, 'आम का क्या हुआ?' वह बोला, 'स्वामीजी, आप क्या सोच कर बैठे हैं? मैंने तो आपको अपना शरीर दिया, मन दिया, आत्मा दी, लेकिन अपने बगीचे के आम नहीं दिये हैं।' यह समर्पण नहीं होता। इस प्रकार की भावना बुद्धि से प्रेरित रही तो वह भावना शुद्ध नहीं, अशुद्ध कहलाती है।

अनाहत चक्र में शुद्ध और अशुद्ध, ये दो अनुभव होते हैं। जब शुद्ध अनुभव होता है तब पूर्ण समर्पण, विशुद्ध प्रेम की उत्पत्ति होती है, और जब अशुद्ध तत्त्व प्रबल रहते हैं तब उस समय सीमित प्रेम अथवा अपूर्ण समर्पण होता है। ऐसे समय में अनुबन्धित भावनाओं की उत्पत्ति होती है। ये वायु के सदृश हैं। वायु को जानते हैं न? वह हमेशा प्रवाहित होती रहती है।

उसके बाद है विशुद्धि चक्र। कुण्डलिनी योग की चर्चा मैं आपसे ध्यान योग के सन्दर्भ में कर रहा हूँ। विशुद्धि चक्र गले के पीछे गर्दन में स्थित है। यह आकाश तत्त्व का प्रतीक है। जैसा इसका नाम है, वैसा इसका काम है। विशुद्धि का अर्थ होता है पूर्ण रूप से शुद्ध, पवित्र, निर्मल। आकाश तो सृष्टि की हर अभिव्यक्ति का आधार है। कहते हैं कि आकाश ही ब्रह्म है, विकासशील अस्तित्व है।

विशुद्धि के बाद है आज्ञा चक्र, जहाँ पर वैयक्तिकता का बोध होता है। ये छः चक्र हैं। इनके अतिरिक्त और भी हैं, लेकिन वे अंतश्चेतना के परे हैं। वे व्यापक चेतना के केन्द्र हैं, जैसे, सहस्रार। सहस्रार में हर प्रकार की अभिव्यक्ति, हर प्रकार की अनुभूति है। सहस्रार में परानुभूति तथा अपरानुभूति, दोनों व्याप्त हैं, तथा यह सदाशिव का केन्द्र है, विकासशील है। इन चक्रों को भेदती हुई एक शक्ति ऊपर उठती है, जिसे कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति का अन्तिम रूप है।

शक्ति का रूपान्तरण

इस दृश्य जगत् में यह बिजली कहाँ से आ रही है, इसका कहीं ऊर्जा केन्द्र होगा न? कोई बड़ा ट्रांसफॉर्मर होगा। उस बड़े ट्रांसफॉर्मर में बिजली कहाँ से आ रही है? किसी स्रोत से आ रही होगी। एक ग्रिड से आ रही होगी। और ग्रिड में बिजली कहाँ से आती है? जहाँ पर बिजली का उत्पादन होता है वहाँ से आती होगी। यह जो बिजली यहाँ पर अभी हमें दिखलाई दे रही है, यह तो 'स्टेप-डाउन इलेक्ट्रिसिटी' है। मूल केन्द्र में, जहाँ पर बिजली का उत्पादन होता है, वहाँ पर 220 या 440 वोल्ट का उत्पादन नहीं होता। वहाँ तो हजारों-हजार वोल्ट का उत्पादन होता है, और हजारों-हजार वोल्ट को 'स्टेप-डाउन' किया जाता है, कम किया जाता है ट्रांसफॉर्मर के द्वारा। पहले 11,000 वोल्ट के ट्रांसफॉर्मर से, फिर उससे कम वोल्टेज के ट्रांसफॉर्मर से, फिर 440 वोल्ट, फिर 220 वोल्ट के ट्रांसफॉर्मर से होकर वह आती है। यही प्रक्रिया है

कुण्डलिनी की भी। ये जो अलग-अलग चक्र हैं, सब ट्रांसफॉर्मर हैं जो इस अतीन्द्रिय शक्ति को इन्द्रिय जनित बनाकर हमारे सामने रख देते हैं।

इसी कुण्डलिनी का जब जागरण होता है, तब सर्वप्रथम स्थूल चेतना की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उनमें अद्वैत की अनुभूति होती है। अतः कुण्डलिनी का जागरण और ध्यान, ये समानान्तर प्रक्रियाएँ हैं। अगर व्यक्ति ध्यान करेगा, अगर व्यक्ति अपने व्यवहार में परिवर्तन लायेगा, तो कुण्डलिनी अवश्य जगेगी, केवल ध्यान के द्वारा। अगर व्यक्ति कुण्डलिनी योग या क्रिया योग का अभ्यास करता है, और कुण्डलिनी को मूलाधार चक्र में जाग्रत करने का प्रयत्न करता है तो उस प्रयत्न में भी ध्यान की स्थिति आती है। दोनों एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। अगर आप भिन्न समझते हैं तो यह आपकी गलतफहमी है।

कुण्डलिनी को जाग्रत करने के अनेक उपाय हैं, हठयोग के द्वारा; राजयोग के द्वारा; क्रिया योग जैसे गुप्त अभ्यास द्वारा; कुण्डलिनी योग के जो अभ्यास हैं, जिनमें चक्रों को प्राण शक्ति से स्पन्दित किया जाता है, जाग्रत किया जाता है, उनके द्वारा। अरे, संकल्प शक्ति के द्वारा भी! योग के जितने अंग हैं, वे सब कुण्डलिनी को जाग्रत करने में सक्षम हैं। इसलिये यह कभी नहीं सोचना कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए कुण्डलिनी योग का ही अभ्यास करना पड़ेगा। अरे भाई, अगर गाड़ी चलानी सीखनी है तो एम्बेसडर से भी सीख सकते हो। फिर चाहे कोई गाड़ी चलाओ अपनी मर्जी से। यह क्यों कहते हो कि अगर हम गाड़ी चलाना सीखेंगे तो केवल मारुति से ही, एम्बेसडर से नहीं। मारुति तो मँहगी गाड़ी है, एम्बेसडर सस्ती है। इसलिये यह नहीं कहना कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए हम केवल कुण्डलिनी योग का अभ्यास करेंगे। यह मँहगा पड़ जायेगा। यह कहो कि हम कुण्डलिनी को जाग्रत करना चाहते हैं, उसके लिए एक प्रक्रिया से हम गुजर रहे हैं, जिसमें पहले हठयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग इत्यादि हैं। और अन्त में वही कुण्डलिनी शक्ति है जो तन्त्र की शक्ति है, जो सांख्य की प्रकृति है, जो वेदान्त की माया है। उसका मिलन जब सहस्रार में सहस्रदल कमल के मध्य बैठे हुए शिव के साथ होता है तब ध्येय की प्राप्ति में न ध्यान रहता है, न ध्याता रहता है।

योग तो खैर एक बहुत विशाल विषय है। अभी केवल इस बात को याद रखना है कि यह योग का क्रम है। शुरू भले ही हो शरीर के साथ, लेकिन योग का अन्त होता है इस शक्ति के परम शिव से मिलन के साथ।

त्याग स्वर्ण जयंती और विश्व योग सम्मेलन

इससे अधिक अगर जानने की इच्छा है तो हम आप सबको मुंगेर आमंत्रित करते हैं, जहाँ इस वर्ष एक से चार नवम्बर तक, यहाँ की तरह एक चतुर्दिवसीय विश्व योग सम्मेलन का आयोजन किया गया है, और इस सम्मेलन के दौरान हम लोग अपने गुरु परमहंस स्वामी सत्यानन्द जी के संन्यास की पचासवीं जयन्ती मनाने जा रहे हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि हर बीस साल के बाद स्वत:, सम्भवत: ईश्वरीय प्रेरणा से एक विशाल योग सम्मेलन का आयोजन होता है। उसके बाद अध्यात्म शिक्षा का, योग शिक्षा का रूप बदलता है।

सर्वप्रथम 1953 में ऋषिकेश में भूमण्डलेश्वर श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने एक 'विश्व धर्म सम्मेलन' का आयोजन किया था। पूरे देश से तथा बाहर के देशों से भी धर्म के ज्ञाताओं ने सम्मेलन में भाग लिया था। बीस वर्ष के अन्तराल पर 1973 में मुंगेर में स्वामी सत्यानन्द जी ने एक विश्व योग सम्मेलन का आयोजन किया था। उस विश्व योग सम्मेलन में परम गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी की त्याग स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी थी, और विचित्र संयोग यह हुआ कि 1993 में, अर्थात् इस वर्ष स्वामी सत्यानन्द जी के शिष्य अपने गुरु की त्याग स्वर्ण जयन्ती मनाने जा रहे हैं। यह स्वर्ण जयन्ती एक विश्व योग सम्मेलन के रूप में मनायी जायेगी, जिसमें देश-विदेश से अनेक चिन्तक, बुद्धिजीवी, महात्मा, वैज्ञानिक और सन्त पधार कर आगामी दशक के लिए एक कार्यक्रम तैयार करेंगे, जिससे व्यक्तित्व-परिवर्तन तथा समाज-परिवर्तन हो सके।

सन् 1973 के बाद ही योग एक आन्दोलन के रूप में विश्व में फैल गया, उसके पहले तो योग को कोई जानता भी नहीं था। प्रचार भी नहीं था। लेकिन जो कार्यक्रम उस समय बनाया गया, उसी का परिणाम आज हम देख रहे हैं कि योग देश-विदेश में विज्ञान के रूप में प्रचलित हो गया है। अभी का जो सम्मेलन होगा, उसमें योग शिक्षा तथा संस्कृति का समावेश होगा, और हम देखेंगे कि आगामी दशक में योग, योग-विज्ञान के रूप में नहीं, बल्कि योग-संस्कृति के रूप में सामने आये। अगर ऐसा होता है तो पूज्य गुरुदेव का वह स्वप्न साकार हो जायेगा, वह वाणी साकार हो जायेगी, जिसमें वे कहा करते थे कि एक समय आयेगा जब योग एक विश्व संस्कृति के रूप में उभरेगा और विश्व की घटनाओं को निर्देश देगा। हम लोग तैयार हैं उसके लिए। आँधी

आए, बवंडर आए, तूफान आए, गुरुजी का आशीर्वाद है, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, चलते रहो, चलते रहो।'

त्याग की पराकाष्ठा

एक प्रश्न तो अभी आप लोगों के मन में उठ रहा होगा कि क्या इस सम्मेलन में गुरुजी आने वाले हैं। अगर मन में यह प्रश्न है तो मुझ से नहीं पूछना, क्योंकि गुरुजी एक बात हमेशा कहते हैं, 'जब मैंने घर छोड़ा, तब घर की तरफ मुड़कर नहीं देखा। जब मैंने आश्रम सम्भाला और गुरु पद पर आसीन हआ, तब फिर मैंने गुरुधाम की ओर मुड़कर नहीं देखा। मैंने यह नहीं सोचा कि मैं गुरुधाम को किस मुँह से देखूँ, या गुरुधाम जाकर यह कहूँ कि मैं अब गुरु बन गया हूँ। नहीं, गुरुधाम में तो मैं हमेशा एक शिष्य के रूप में जाऊँगा।' और जब उन्होंने बिहार योग विद्यालय का भी त्याग कर दिया, तब कहा कि देखो भाई, मैं छोड़ रहा हूँ, फिर वापस नहीं आऊँगा।

उनके आश्रम से जाने का भी विचित्र संयोग होता है। वे कहते हैं कि जब मैंने संन्यास लिया था तब मेरे मन में यह नहीं था कि मैं आश्रम की स्थापना करूँगा, योग का प्रचार करूँगा, गुरु बनूँगा, मेरे चारों तरफ चेलों का जमघट होगा, बल्कि संन्यास लेते समय कामना थी कि मैं उस सत्य को पहचानूँ, जिसकी खोज हर मनीषी ने की है, और किसी-न-किसी रूप में उसे पाया है। लेकिन आश्रम बनाया, योग का प्रचार किया, क्योंकि मुझे गुरु-ऋण से मुक्त होना था, गुरु-आदेश का पालन करना था। और जिस दिन मुझे आभास हो गया, जिस दिन गुरुजी का निर्देश मिल गया कि अब तुम गुरु-ऋण से मुक्त हो, उस दिन मैंने उस कार्य को रोक दिया और अब पुन: उसी लक्ष्य की ओर चल रहा हूँ जिस लक्ष्य की ओर चलने के लिए मैंने प्रारम्भ में संन्यास लिया था। वे कहते हैं–

मैं उन्मुक्त गगन का पंछी, मैं अजस्र अमृत की धारा ।
मैं प्रशान्त सामोद सनातन, मैं खुशियों का दीप्त सितारा ॥

मुझे उस दिशा में ही चलने दो, जहाँ पर चेलों का बंधन न बाँधे। चेलों का भी बंधन होता है। आप लोग भी तो बाँधते हैं न? जहाँ पर संसार का बंधन हमें नहीं बाँधता, वहाँ पर चेले बाँधने का प्रयत्न करते हैं। सत्तर वर्ष की अवस्था में सभी प्रकार के सुख और वैभव का त्याग कर जब वे आश्रम से निकलते हैं, तब मात्र दो धोती और 108 रुपये के साथ पैदल निकलते हैं, और कहते हैं,

'मुझे किसी शिष्य से मिलना नहीं है, क्योंकि वे शिष्य मेरे सम्पर्क में तब आये जब मैं योग का काम कर रहा था, और अब मैं योग का काम नहीं कर रहा हूँ। अत: अब उनसे मिलने का क्या प्रयोजन है? क्योंकि अब मैं योग की शिक्षा दूँगा नहीं, और वे लोग आयेंगे मेरे पास यौगिक समाधान के लिए। मुझे मिटा देने दो वह 'ब्लैक बोर्ड' जिस पर बीस साल तक मैंने लिखा है। हाँ, इतना तो जानता हूँ कि एक बार में वह पूरा मिटने वाला नहीं है। उसे थोड़ा-थोड़ा करके मिटाना पड़ेगा। एक बार में ब्लैक-बोर्ड मिटता नहीं है, समय जरूर लगेगा, लेकिन मैं अपने ब्लैक-बोर्ड को मिटाऊँगा। मैं तुम लोगों के लिए मर चुका हूँ। अब मैं वह सत्यानन्द नहीं हूँ जिसे तुम लोगों ने जाना है। अब मैं वह सत्यानन्द हूँ जो अपने लक्ष्य की ओर, अपने गंतव्य की ओर चलने का प्रयत्न कर रहा है। अत: उस सत्यानन्द को स्वतन्त्र रहने दो।'

सत्तर वर्ष की अवस्था में, जब हम लोग सुख-सुविधा खोजते हैं, यह चाहते हैं कि हमारा बाकी जीवन आनन्द से बीते, वे अकेले निकल पड़ते हैं। और अन्त में क्या होता है? त्र्यम्बकेश्वर में, अपने इष्ट देव के पास पहुँचकर वे अपने वस्त्रों का भी त्याग कर देते हैं। वे कहते हैं कि जब मैंने योग के लिए काम करने का गुरु-आदेश ग्रहण किया था, तब यह वस्त्र तुम्हारी ही कृपा से ग्रहण किया था। अब मैं ऋणमुक्त हो गया हूँ। अत: तुम्हारा दिया हुआ वस्त्र मैं तुम्हें वापस करता हूँ। और मात्र कौपीन धारण करके, ईश्वर की प्रेरणा और आदेश से वे ईश्वर की श्मशान-भूमि में जाकर पंचाग्नि साधना में रत हैं। यह संन्यास परम्परा में परमहंस जीवनशैली का ज्वलन्त उदाहरण है।

वे कहते हैं कि मैं वैसा गुरु या संन्यासी नहीं, जो मृत्यु के समय अपने को अस्पताल में पाता है। अनेकों ट्यूब शरीर में घुसे हैं, चेले लोग बगल में खड़े हैं। हम लोग शिक्षा देते हैं कि समाधि में प्राण को चढ़ाकर आदर्श-मृत्यु हो, पर हम लोग मरते हैं अस्पताल के बिस्तर पर। यह झूठी शिक्षा क्यों देना? अगर हम अपने जीवन में यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि हम अपने प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ाकर समाधि की स्थिति में अपने प्राणों का त्याग कर सकते हैं तो इस प्रकार की शिक्षा देना ही क्यों?

उनका जो स्थान है, बहुत-से लोगों ने तो वहाँ जाकर देखा है, एक चबूतरा मात्र है। मकर संक्रांति से कर्क संक्रांति तक वे चबूतरे पर अपना समय बिताते और गर्मी में पंचाग्नि साधना करते हैं। अग्नि को जलाकर उसके बीच में बैठते हैं।

एक बार हम वहाँ पर गये थे, क्योंकि हमलोगों ने जोर-जबरदस्ती करके, अनुरोध करके एक कुटिया का निर्माण किया और कहा कि यह कुटिया आपकी है, यहाँ रहिये। राशन-सब्जी हम लोग पहुँचा देते हैं। वे अकेले रहते हैं, खुला रसोईघर है, खिचड़ी खुद बना लेते हैं, सब्जी उबाल लेते हैं, बाकी समय साधना में बैठे रहते हैं। गर्मी के दिनों में जहाँ वे साधना करते हैं वहाँ एक बार थर्मामीटर रखा गया। पता चला कि तापमान 90 डिग्री तक चढ़ गया था! ऐसी साधना है उनकी, और हमें गर्व है कि हमें ऐसे गुरु मिले हैं। ऐसे गुरु की त्याग जयन्ती हम इस वर्ष एक आदर्श संन्यास जीवन के रूप में मना रहे हैं। आशा करते हैं कि इस आयोजन से सभी व्यक्ति प्रेरणा लेंगे।



एड्स और योग

हम योग सिखाते हैं, और योग के द्वारा आरोग्य प्रदान करने का प्रयास करते हैं। इस श्रृंखला में देश तथा विदेश में अनेक प्रकार के अनुसंधान कार्यक्रम हमारे संन्यासियों तथा योग केन्द्रों द्वारा संचालित होते रहते हैं। सर्वप्रथम आरोग्य की दिशा में योग की क्या भूमिका हो सकती है, यह जानने के लिए उच्च रक्तचाप, दमा, मधुमेह इत्यादि रोगों पर योग के विभिन्न प्रयोग किए गए, और हमें शत-प्रतिशत सफलता मिली। लेकिन अपने मंतव्य को प्रकट करने के पहले हम आपको यह स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि योग कोई जादू नहीं है कि एक बार कर लेने से हमें आरोग्य की प्राप्ति हो जाए। योग केवल एक विधि है, और पीड़ित व्यक्ति को परिश्रम करना पड़ता है। एक चिन्तक और समाज-सेवक होने के नाते हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम दूसरों को इस जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए प्रेरित करें। अगर हम दूसरों को यह जीवन-पद्धति अपनाने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, तो निश्चय ही उन्हें लाभ होगा। आरोग्य अवश्य प्राप्त होगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

योग शिक्षक होने के नाते हमें दो भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। पहला कार्य करना पड़ता है प्रेरणा देना, और दूसरा कार्य है रोग के अनुसार, शरीर की क्षमता को देखते हुए उचित अभ्यासों का चयन करना तथा उन्हें सिखलाना। योग के विषय में तो पहले हम यही कहेंगे कि आजकल योग की जिस विचारधारा को समाज में प्रचलित देखते हैं, वह अधूरी है। कुछ लोग आसनों को ही योग मानते हैं। कुछ लोग प्राणायाम या ध्यान की क्रिया को ही योग मानते हैं। लेकिन इतना पहले समझ लीजिए कि शरीर को मन के साथ, और मन को अन्तश्चेतना के साथ जोड़ने का नाम योग है। जब ये तीनों तार एक साथ जुड़ जाते हैं, तब हमारे जीवन में योग की शुरुआत होती है। इसलिए

हम हमेशा कहते आए हैं कि योग एक बहुआयामी विज्ञान है। यह दर्शन नहीं, सिद्धान्त नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक विधि है, जिसको अपनाकर हम अपने जीवन को सरल और स्वस्थ बना सकते हैं, अपने जीवन में सुख, शान्ति तथा आरोग्य का अनुभव कर सकते हैं। देश-विदेश में जो अनुसंधान हुए हैं उनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वे मरीज जो योग को एक जीवन-पद्धति के रूप में अपना लेते हैं, इससे लाभ उठाते हैं।

सर्वप्रथम दमा, मधुमेह, हृदय-संस्थान के रोग, पाचन-प्रक्रिया में गड़बड़ी इत्यादि सरल रोगों पर योग के प्रयोग हुए। उसके पश्चात् जैसे-जैसे योग की सार्थकता दिखलाई देने लगी, वैसे-वैसे जटिल एवं तथाकथित असाध्य रोगों पर भी योग के अनुसंधान शुरू हुए। इसी शृंखला में ऑस्ट्रेलिया में कैंसर पर एक अनुसंधान हुआ था। कैंसर रिसर्च फाउण्डेशन के प्रमुख ने छः ऐसे मरीजों को योग की शिक्षा दी, जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान यह कह चुका था कि सभी पद्धतियाँ विफल हो गयी हैं और चिकित्सा विज्ञान अब तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम अपना वसीयतनामा तैयार कर लो। ऐसे मरीजों को योग के कुछ अभ्यास सिखलाए गए। वे अभ्यास शारीरिक कम, मानसिक अधिक थे। उन्हें शिथिलीकरण, मंत्र-जप और प्राणायाम के अभ्यास कराए गए। और वे मरीज इन अभ्यासों के द्वारा धीरे-धीरे अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाकर, बीमारी से मुक्ति पा गए। योग शिक्षा कैंसर की रोकथाम में अब महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। और पिछले दो वर्षों से एड्स पर भी योग के कुछ प्रयोग चल रहे हैं।

हम जब विदेश भ्रमण करते हैं, तब अनेक लोगों से मिलना होता है, चिकित्सकों से मिलना होता है, और उनके साथ विचार-विमर्श करने के पश्चात् जब हम मरीजों के इतिहास, उनकी मानसिकता, उनकी आवश्यकताओं, पारिवारिक परिस्थिति और मानसिक अवस्था को जानने लगते हैं, तब यह समझ में आता है कि जीवन में थाड़ा-सा परिवर्तन करने से बीमारी दूर हो सकती है। इन्हीं सब बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए हमने एड्स के लिए जो कार्यक्रम बनाया है, जिस पर अभी प्रयोग हो रहे हैं, वह इस प्रकार है। सबसे पहले आहार-संयम। अगर कोई मांसाहारी है, तो उसे मांस छोड़ना पड़ेगा। यह मैं विदेशों में हुए प्रयोगों के आधार पर आपको बता रहा हूँ, ताकि आपको पूर्ण भूमिका नजर आए। विदेशों में तो लोग शाकाहारी नहीं होते। वहाँ के लोग तो शराब उसी प्रकार पीते हैं, जिस प्रकार हम लोग पानी पीते हैं। तो

सबसे पहले उन्हें आहार-संयम बताया जाता है, और आहार-संयम के पश्चात् उन्हें मानसिक रूप से तनावमुक्त होने की क्रिया सिखलायी जाती है। इसमें दो अभ्यास प्रमुख हैं। पहला अभ्यास है योगनिद्रा, और दूसरा अभ्यास है ध्यान की एक प्रक्रिया का, जिसे अजपाजप कहते हैं।

योगनिद्रा का अभ्यास शरीर, मन और भावना को विश्राम देने की स्थिति है, प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विचारात्मक स्तर पर उत्पन्न तनावों को शान्त किया जाता है, और मरीज के भीतर जो एक निराशा की स्थिति रहती है, भय की अवस्था रहती है, उससे उसे मुक्ति दिलायी जाती है। साथ-ही-साथ योग का सिद्धान्त है कि पदार्थ को मन से नियंत्रित करो। यह सिद्धान्त तो आपने अवश्य सुना होगा कि पदार्थमय शरीर को मन की सूक्ष्म शक्ति से नियंत्रित किया जा सकता है। लेकिन मन की इस सूक्ष्म शक्ति को जाग्रत करने के लिए सबसे पहले मन को तनाव-मुक्त बनाने की आवश्यकता होती है। उसके बाद उसे एकाग्र करना, और एकाग्र करने का तरीका हम लोगों ने अपनाया है – अजपाजप का अभ्यास, जिसमें श्वास पर अपनी चेतना को केन्द्रित करते हुए, श्वास के साथ एक मंत्र को जोड़ा जाता है। मंत्र कोई भी हो सकता है। विदेश में हम लोग 'सोऽहं' मंत्र का प्रयोग करते हैं, क्योंकि श्वास के साथ इसका अच्छा तालमेल बैठता है।

योगनिद्रा तथा अजपाजप के अभ्यास के पश्चात् रोगियों को प्राणायाम के अभ्यास सिखाए जाते हैं, ताकि उनकी शारीरिक कमजोरी को समाप्त किया जा सके, और शारीरिक तंत्रों को पुन: शक्ति से परिपूर्ण किया जा सके। जब हमारा प्रतिरक्षा तंत्र कमजोर होने लगता है, तब बीमारियों का सामना नहीं हो पाता। अमेरिका में हमने ऐसे-ऐसे मरीजों को देखा है जो मात्र जुकाम के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। जो व्यक्ति एड्स से पीड़ित हैं, उन्हें यदि जुकाम हो जाए, तो ठीक नहीं होता, खाँसी हो जाए, तो ठीक नहीं होती।

शारीरिक क्षमता के क्षीण होने का कारण क्या है? प्रतिरक्षा तंत्र के कमजोर होने का कारण क्या है? हमारे शरीर के जो संस्थान हैं, वे हमारी अनियमित जीवन-शैली के कारण कमजोर हो जाते हैं, और धीरे-धीरे इस जीवन-पद्धति का हमारे आन्तरिक अंगों पर इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ता है कि उनकी कार्य करने की क्षमता कम होने लगती है। प्रतिरक्षा तंत्र में बीमारी तो अन्त में होती है। सामान्य बीमारियाँ नित्यप्रति होती रहती हैं, और वे भी तो प्रतिरक्षा तंत्र की घटती हुई क्षमता की परिचायक हैं। बुखार क्यों होता है? पेट की खराबी क्यों

होती है? कहीं पर कुछ गड़बड़ी तो है। हमारे शरीर के सभी संस्थान, चाहे पाचन-संस्थान हो या श्वसन-संस्थान या हृदय-संस्थान, सभी अपनी क्षमता और क्रियाशीलता खोने लगते हैं। और इन संस्थानों में एक भीषण विक्षिप्त अवस्था या तनाव की उत्पत्ति होने लगती है। तो इन अंगों को प्राणायाम के अभ्यासों द्वारा शक्ति से परिपूरित किया जाता है, और जैसे-जैसे हमारे ये अंग सुचारु रूप से कार्य करने लगते हैं, वैसे-वैसे इसका प्रभाव प्रतिरक्षा तंत्र पर पड़ता है और उसकी क्षमता में फिर से वृद्धि होने लगती है।

प्राणायाम के अभ्यास से प्राणशक्ति का संचार होता है, और यह प्राणशक्ति शिथिल अंगों को शक्ति, स्फूर्ति और नवजीवन प्रदान करती है। प्राणायाम में भी हम आपको तीन अभ्यासों का सुझाव देंगे। पहला अभ्यास है, भस्त्रिका प्राणायाम; दूसरा है, नाड़ी शोधन प्राणायाम; और तीसरा है, उज्जायी प्राणायाम। ये तीनों प्राणायाम शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने में बहुत सहायक होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ बन्धों के अभ्यास हैं। एक बन्ध होता है उड्डियान बन्ध, और उसका एक सरल तरीका भी है, जिसे अग्निसार क्रिया कहते हैं। ये दो अभ्यास हमारे शरीर के भीतर प्रतिरक्षा तंत्र को शक्तिशाली बनाते हैं। इन अभ्यासों को भी एड्स के कार्यक्रम में जोड़ा गया है। एक आसन को भी इसमें जोड़ा गया है, जिसका नाम है 'सूर्य नमस्कार'। यह गत्यात्मक अभ्यास है। इसके साथ ही योग में एक और उपाय है, जिसे योग की भाषा में शिवाम्बु-कल्प या अमरोली कहते हैं। सामान्य भाषा में इसे स्वमूत्र-पान कहते हैं।

अभी जिस कार्यक्रम का वर्णन हम यहाँ पर कर रहे हैं, सिंगापुर के एक अस्पताल, लंदन के दो अस्पतालों, और न्यूयॉर्क शहर के विश्वविद्यालय के माध्यम से पाँच सौ मरीजों पर उसका प्रयोग चल रहा है। उन अस्पतालों के जो चिकित्सक हैं, जो ऐसे मरीजों की देखभाल कर रहे हैं, उनका भी कहना है कि जो व्यक्ति योगाभ्यास कर रहे हैं, और जो नहीं कर रहे हैं, उनमें बड़ा अन्तर दिखलायी दे रहा है। रोगियों को बीमारी को झेलने की क्षमता योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त हो रही है।

सिंगापुर में पचास मरीजों पर प्रयोग किया गया और दो साल के बाद डॉक्टरों ने 30% मरीजों को आरोग्य-पत्र दे दिया। इस प्रकार के अच्छे परिणाम जब दिखलायी देते हैं तो विश्वास होता है कि हमलोगों को अपने देश में इस दिशा में, इस रोग की रोकथाम के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

सत्संग

कृपया प्रत्याहार पर विस्तृत चर्चा करें।

पातंजल योग दर्शन ने योग विज्ञान को आठ अंगों में विभक्त किया है। ये अंग जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं को सन्तुलित करने का प्रयत्न करते हैं। इनमें पहले दो अंग, जिन्हें यम और नियम के नाम से जाना जाता है, हमारे जीवन के विचार, व्यवहार और व्यक्तित्व को सन्तुलित, सकारात्मक एवं सृजनात्मक बनाने का प्रयत्न करते हैं।

पाँच यम होते हैं और पाँच नियम। देखा जाए तो योग शास्त्रों एवं उपनिषदों में इनसे भी अधिक यमों और नियमों की चर्चा की गयी है। योग उपनिषदों में 'दशविधि यम' और 'दशविधि नियम' की चर्चा होती है। उन्होंने दस-दस यम और नियम माने हैं, लेकिन महर्षि पतंजलि ने उनमें से मुख्य यमों और नियमों को अपनाकर व्यक्तित्व परिवर्तन की एक भूमिका निश्चित की है।

अष्टांग योग के अनुसार पाँच यम हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। पाँच नियम हैं – शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। जब हम इन यमों तथा नियमों का पालन अपने जीवन में करने लगते हैं, तब हमारी मानसिकता में परिवर्तन होता है, हमारे विचार, व्यवहार तथा कर्म में परिवर्तन होते हैं, क्योंकि यह एक दार्शनिक और विचारात्मक प्रक्रिया ही नहीं, बल्कि स्वयं को शुद्ध बनाने का एक तरीका है। उसके पश्चात् जीवन के दूसरे पक्ष को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया जाता है। इसके लिये हम लोग तीसरे और चौथे अंगों का सहारा लेते हैं, जो आसन और प्राणायाम हैं।

आसन और प्राणायाम अन्नमय तथा प्राणमय कोश को सन्तुलित बनाते हैं। इसके पश्चात् योग का मानसिक पक्ष प्रारम्भ होता है। इसके अन्तर्गत

प्रत्याहार तथा धारणा की चर्चा होती है। जब हम योग के इस मानसिक पक्ष को पार कर जाते हैं, तब हमारे जीवन का जो अतीन्द्रिय या आध्यात्मिक क्षेत्र है, उसमें प्रवेश करने के लिए ध्यान का सहारा लेना पड़ता है, और उसकी पूर्णाहुति होती है समाधि की अवस्था में। अत: बाह्य जीवन के जो शारीरिक, मानसिक और व्यावहारिक पक्ष हैं, उन्हें अष्टांग योग के द्वारा सुदृढ़ बनाया जाता है।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्रों में इस अष्टांग योग के विभिन्न बिन्दुओं पर चर्चा की है। लेकिन योग दर्शन का मूल विचार केन्द्र है, मन। मन को ही आधार बनाया गया है, जहाँ से आप स्थूल की ओर, अर्थात् शरीर की ओर, या विचार, व्यवहार और कर्म की ओर अग्रसर हो सकते हैं, और अध्यात्म की ओर भी अग्रसर हो सकते हैं।

लेकिन मन को किस प्रकार समझा जाए? अनेक लोगों ने प्रयास किया है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मन को जानने के लिए प्रयत्नशील है। आधुनिक मनोविज्ञान लगभग दो-ढाई सौ वर्ष प्राचीन है। इसके सिद्धान्तों के प्रणेता फ्रॉयड तथा युंग रहे हैं, लेकिन अपने विचार और अनुभव से हम यह कह सकते हैं कि यह पूर्ण विज्ञान नहीं है। यह शैशव अवस्था में है, क्योंकि व्यक्तित्व को समझना, मन की प्रक्रियाओं को समझना सरल नहीं है, और अभी हम लोग अपने व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार के केवल दसवें हिस्से को ही समझ पाये हैं। किन्तु योग-मनोविज्ञान मात्र ढाई सौ वर्ष प्राचीन नहीं है। इसकी शुरुआत तब हुई जब मनुष्य स्वयं के प्रति जागरूक बना, और इसकी भूमिका हजारों वर्षों से बनती आयी है।

अत: निष्पक्ष भाव से हम यह कह सकते हैं कि अगर मनोविज्ञान का कोई पूर्ण रूप है तो वह योग मनोविज्ञान ही है, जो कि प्रयोगात्मक है। अनेक मनीषियों एवं चिन्तकों ने अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग किया और सफलता हासिल की है। सिद्धान्त एक ही जैसे हैं। जिन मानसिक अवस्थाओं को आधुनिक मनोविज्ञान चेतन, अवचेतन तथा अचेतन कहता है, उन्हें योग मनोविज्ञान जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के नाम से जानता है, लेकिन यहीं पर रुकता नहीं, इसके आगे भी कहता है कि एक और अवस्था है, जिसका नाम है तुरीयावस्था।

तंत्र शास्त्र में योग-मनोविज्ञान का विशेष अध्ययन किया गया है, और वे चेतना की चार नहीं, बल्कि सोलह अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। कहीं-कहीं

सोलह अवस्थाओं का वर्णन है, तो कहीं-कहीं बीस अवस्थाओं का। आप खुद अंदाज लगा लीजिए कि जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान मात्र तीन अवस्थाओं की चर्चा करता है, तो इनमें कौन अधिक पूर्ण है? हमारे मतानुसार योग-मनोविज्ञान ही अधिक पूर्ण है।

जब पातंजल योग दर्शन या कुण्डलिनी योग या क्रिया योग या अन्य अप्रचलित योगों का अध्ययन करते हैं, तब यह ज्ञात होता है योग में सूक्ष्म अवस्थाओं की जानकारी पर ही विशेष जोर दिया गया है। स्थूल प्रक्रियाओं पर योग उतना अधिक जोर नहीं देता, क्योंकि इसने शरीर को या बाह्य परिस्थिति को जीवन में परिवर्तन का मात्र एक साधन माना है, साध्य नहीं। योग स्वयं में साधन है, साध्य नहीं। इस साधना के दौरान हम विभिन्न परिस्थितियों से गुजरते हुए आत्म-शान्ति की स्थिति को प्राप्त करते हैं।

इस बात को समझाने के लिए हम पूज्य गुरुदेव के एक वाक्य का सहारा लेते हैं। वे कहा करते हैं– 'देखो, हिमालय में शान्ति नहीं और विश्व में कोलाहल नहीं है। अगर तुम कोलाहल या शान्ति का अनुभव करते हो तो यह अनुभव न जगत् में होता है, न हिमालय में। जो होता है सो मन के भीतर ही होता है। अगर मन चंचल हो तो हिमालय में भी शान्ति नहीं मिलती, लेकिन अगर मन शान्त हो तो विश्व में कहीं पर कोलाहल सुनायी नहीं पड़ता।' इस विचार से भी यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अगर हम अपने जीवन में किसी प्रकार की उपलब्धि की आशा रखते हैं तो उसके लिए सबसे पहले अपनी खोपड़ी और मन को अपने नियंत्रण में रखना आवश्यक है।

यहीं से प्रत्याहार और धारणा की शुरुआत होती है। हम जानते हैं कि हमारा मन बहिर्मुखी है, और संसार में हम बहिर्मुखी रूप में जीते हैं। हमारी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं, हमारी कामनायें, इच्छायें, वासनायें और महत्त्वाकांक्षायें इत्यादि बहिर्मुखी होती हैं। इस बहिर्मुखी अवस्था को बदलना और जीवन में चेतना की गहराई में गोते लगाना प्रत्याहार का लक्ष्य होता है।

जिस प्रकार कछुआ चलने के लिए अपने कवच से हाथ, पैर और सिर को बाहर निकालता है, ठीक उसी प्रकार हम जीवन में आगे बढ़ने के लिए पाँच इन्द्रियों का सहारा लेते हैं। इन पंच इन्द्रियों के कारण ही हम अपने जीवन में क्रियाशीलता या गति को देखते हैं। किन्तु यदि हम शान्ति की खोज करते हैं,

तो यह उसी प्रकार की स्थिति है कि हम चाहते हैं हमारी गाड़ी का इंजन बन्द हो जाए, लेकिन हम 'इग्निशन' को बन्द नहीं करते। जब तक इग्निशन बन्द नहीं होता तब तक इंजन चलता रहता है।

इंजन को चलाकर, हम लोग अपनी गाड़ी के अन्दर चुपचाप बैठकर यह कल्पना करते हैं कि यह हलचल कब समाप्त होगी। इस हलचल को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम मोटर को रोक दें, इंजन को रोक दें। इन्द्रियों की जो गति है, उसे रोकने की प्रक्रिया प्रत्याहार है। इसमें शनैः शनैः बहिर्मुखी इन्द्रियों को शान्त करने और अंतर्मुखी बनाने का प्रयत्न होता है। किस प्रकार से? अपनी चेतना को अपने भीतर में समेटना; अपने मन को, उसकी अबाध गति को शान्त करना तथा उसे अपने आप में केन्द्रित करना। इस आन्तरिक केन्द्रीकरण और शान्ति के लिए एक क्रम या पद्धति को अपनाना पड़ता है।

यह पद्धति या क्रम किस प्रकार का है? कर्मेन्द्रियों को तो आप रोक सकते हैं। पैरों को चलाना रोक सकते हैं, मौन के अभ्यास द्वारा वाणी को रोक सकते हैं। कर्मेन्द्रियाँ तो स्थूल होती हैं, इस कारण उन पर हमारा नियन्त्रण रहता है, लेकिन ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों से सूक्ष्म हैं, उन्हें कैसे रोकें? इसके लिए योग में एक पद्धति को अपनाया जाता है। सर्वप्रथम एक-एक अनुभूति के प्रति क्रमशः सजग होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हम जिस अवस्था का अनुभव करते हैं, जिस अनुभूति को प्राप्त करते हैं, जिस विचार या भावना के द्वारा हम प्रेरित होते हैं, जिस इच्छा के द्वारा हमारे भीतर कर्म करने की क्षमता आती है, उसे पहले पहचानना।

इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है, मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाना। स्थूल से सूक्ष्म की ओर किस प्रकार ले जाते हैं? जो शारीरिक प्रक्रिया है, उसके प्रति सजग बन कर; मन को उस प्रक्रिया में लगाकर; फिर मानसिक प्रक्रिया के प्रति सजग बनना। योग में कहा जाता है कि श्वास पर ध्यान एक माध्यम है, जिसके द्वारा हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा सकते हैं। हृदय पर ध्यान, जिसे हृदयाकाश धारणा कहते हैं, एक माध्यम है जिसके द्वारा हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा सकते हैं। मन का जो टी.वी. स्क्रीन है, उसे देखना, जिसे योग में चिदाकाश धारणा कहते हैं। और उसे देखते हुए अपने आपको एक बिन्दु या केन्द्र में एकाग्र करना। ये सब चित्त को एकाग्र करने के उपाय हैं।

हम मन को मंत्र के द्वारा एक बिन्दु या विचार या भाव में केन्द्रित करके उसकी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत करते हैं। इस प्रकार मन को बाह्य विषयाकर्षणों से खींचा जाता है। योग की विचारधारा स्पष्ट है कि मन का विरोध मत करो। पूज्य गुरुदेव परमहंस सत्यानन्द जी एक दृष्टान्त दिया करते थे। कहते थे कि मन एक जंगली घोड़ा या बन्दर है, जिसे तुम कभी रोक नहीं सकते। जिस दिन इसे रोकने का प्रयत्न करोगे, हार तुम्हारी ही होगी, क्योंकि इस पर लगाम कोई नहीं लगा सकता, इस पर सवारी कोई नहीं कर सकता, इसके साथ जोर-जबरदस्ती कोई नहीं कर सकता। अगर घोड़े पर लगाम लगानी है, तो पहले उसे प्रशिक्षित करना होगा ताकि वह सवार के निर्देशों का पालन कर सके।

सवार हम हैं, घोड़ा मन है, लेकिन मन को पहले प्रशिक्षित करना सीखना होगा। मन को प्रशिक्षित करने के विविध उपाय हैं। मंत्र के द्वारा, श्वास पर ध्यान के द्वारा, चिदाकाश या हृदयाकाश में ध्यान के द्वारा, आन्तरिक विचार और व्यवहार को द्रष्टा भाव से देखकर हम स्वयं को केन्द्रित करने में सक्षम होते हैं। जब हमारा मन बाह्य विषयों के आकर्षण से हटकर एक बिन्दु में रमता है, तब उसे कहते हैं धारणा की स्थिति। जहाँ पर हम किसी विक्षिप्तता या विचलित अवस्था का अनुभव न करें, बल्कि पूर्ण रूप से एकाग्रता का ही अनुभव अनवरत रूप से होता रहे।

पुनः हम इस बात को दोहराते हैं कि सम्पूर्ण योग-विज्ञान इसी बिन्दु की तरफ हमारे ध्यान को आकृष्ट करता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए, कर्मकौशल लाने के लिए, सकारात्मक विचारों एवं सृजनात्मक व्यक्तित्व को जन्म देने के लिए हमें इस मार्ग से गुजरना पड़ता है। जब तक हम इस मार्ग से नहीं गुजरते तब तक जीवन में अशान्ति और क्लेश बने रहते हैं। ध्यान की स्थिति नहीं आती। ईश्वर का अनुभव नहीं होता।

योग-दर्शन स्पष्ट रूप से कहता है कि ईश्वर जीवन में सनातन सत्ता का अनुभव है, जिसका कभी नाश नहीं होता। दो शब्द हैं, ईश्वर और नश्वर। हम नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं, हमारा एक आदि और एक अन्त है, लेकिन वह ईश्वरीय सत्ता सनातन है, अनादि और अनन्त है। जब तक इस आदि और अन्त के चक्कर से हम स्वयं को बाहर निकालने का प्रयत्न नहीं करते तब तक ईश्वर की अनुभूति हमें नहीं हो सकती।

एक बार एक व्यक्ति ने पूज्य गुरुदेव से पूछा था कि क्या इस जन्म में ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। तो उन्होंने कहा था, नहीं, यह संभव नहीं है।

व्यक्ति ने पुन: प्रश्न किया था, अगर आप कहते है कि संभव नहीं है, तब तो हम लोगों के ये सब प्रयत्न बेकार हैं कि हम योग करें, जप-ध्यान करें, यह आशा रखें कि हमें एक दिन साक्षात्कार होगा। अगर आप की बात सच है तब तो सभी सिद्धान्तों एवं दर्शनों का कोई आधार नहीं, सब बेकार हैं। गुरुजी ने कहा, 'देखो, तुम्हारा जीवन एक घड़े की तरह है, और एक घड़े में घड़ाभर पानी ही घुसता है। लेकिन अगर तुम उस घड़े में पूरे सागर का समाहित करना चाहते हो तो वह संभव नहीं है। अगर तुम चाहते हो कि ईश्वर का साक्षात्कार हो, अगर तुम चाहते हो कि वह सागर तुम्हारे घड़े में घुस जाए तो तुम्हें घड़ा तोड़ना पड़ेगा।'

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
फूटहिं कुंभ जल जल ही समाना, बात कहे यह ज्ञानी ॥

यह कबीरदास की वाणी है। सागर के मध्य में घड़े को डुबा दोगे तो क्या यह कह पाओगे कि घड़े में सागर आ गया? नहीं, घड़े को तोड़ना पड़ता है। तो हमारी जो प्राचीन विद्यायें, दर्शन एवं सिद्धान्त हैं, उनका यही प्रयोजन है कि हम अपने घड़े को तोड़ें। यह प्रयोजन नहीं कि पूरा सागर हमारे घड़े में समा जाए।

गुरुजी ने यह बात भी कही थी कि ईश्वर एक अनुभवातीत वास्तविकता है और यदि तुम उस अनुभवातीत वास्तविकता को अपने सीमित मन और मस्तिष्क से समझने का प्रयास करते हो, तो वह संभव नहीं है। इन प्रक्रियाओं का उद्देश्य होता है अपने आपको परिवर्तित करना, अपने सीमित रूप को बदलकर स्वयं को असीम रूप में अनुभव करना। जिस दिन यह हो पायेगा, हमें ईश्वर-दर्शन अवश्य होगा।

घड़े को तोड़ना है, और ये जितनी प्रक्रियाएँ हैं, घड़े को तोड़ने की विधियाँ हैं, हथौड़े हैं; एक मारा, फूट गया। लेकिन कुछ लोग क्या करते हैं, हथौड़े को ले लेते हैं, और घड़े को केवल टक्-टक्-टक्-टक् करते रहते हैं। चाहते हैं कि हम तोड़ें, क्योंकि सुनते आए हैं कि तोड़ने से 'फूटहिं कुंभ जल जल ही समाना', लेकिन मन में एक भय रहता है कि अगर यह घड़ा टूट जाए तो हमारा क्या होगा।

अरे भई! अध्यात्म जगत् में 'जब मैं रहा तो तुम नहीं, और जब तुम हो तो मैं नहीं।' अब तुम किसको चाहते हो? अगर चाहते हो कि 'मैं' रहे, तो 'वह'

नहीं रहेगा, और अगर चाहते हो कि 'वह' रहे तो 'मैं' नहीं रहेगा। स्वयं को जानने की प्रक्रिया योग की प्रक्रिया है, और इसमें प्रत्याहार तथा धारणा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

देह-बुद्धि-अभिमान मनोयोग के रास्ते में अवरोध है। क्या शारीरिक अभ्यासों पर ज्यादा ध्यान देने से मनोयोग की स्थिति को हम प्राप्त कर पायेंगे?

भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं। वे कहते हैं कि देहाभिमान का त्याग करना आत्मानुभूति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। देह का अभिमान हर व्यक्ति को रहता है। यह देहाभिमान मात्र इस शरीर से सम्बन्धित नहीं है। इसका सम्बन्ध है प्रतिष्ठा से, अहं की भावना से, कर्त्ता और भोक्ता की भावना से। देहाभिमान का एक प्रत्यक्ष उदाहरण मैं आपको देता हूँ। जब कोई अच्छा कर्म होता है तो करने वाला 'मैं' हूँ, पर जब कोई बुरा कर्म होता है तो करने वाला ईश्वर बन जाता है। कहते हैं, 'हे ईश्वर! क्यों इस प्रकार का कर्म मुझसे करवाते हो।' अच्छा कर्म करने पर हम गुपचुप की तरह फूल जाते हैं। यह तो देहाभिमान का सबसे बड़ा, प्रत्यक्ष उदाहरण है।

स्वयं के प्रति जो 'अहं' या 'मैं' या 'कर्त्ता' की भावना है, उसे दूर करने के लिए साधक बनना पड़ता है, योद्धा बनना पड़ता है। अगर दार्शनिक रूप से देखा जाए, तो गीता में यह उल्लेख आता है कि जीव मन सहित छः इन्द्रियों के साथ प्रकृति के बताये गये निर्देशों का पालन करता है–

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।

एक जन्म में ही सभी प्रकार के संस्कारों एवं कर्मों का क्षय नहीं किया जा सकता। हम मृत्यु के पश्चात् आत्म-तत्त्व को पा नहीं सकते, जब तक हमारे भीतर वासनायें और कामनायें रहती हैं। इसका उदाहरण हम बतलाते हैं। जब आप घर बदलते हैं, क्या अकेले जाते हैं, या अपना बोरिया-बिस्तर लेकर जाते हैं? अपने सूटकेस में क्या-क्या चीजें हम लोग नहीं भर कर ले जाते! यह तो हालत है हमारी सामान्य जीवन में। फर्नीचर भी साथ ले जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से भगवान की नौकरी में जब जीव का एक शहर से दूसरे शहर में स्थानान्तरण होता है, तो वह मन तथा पाँचों इन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है।

जब तक जीव का इनसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता, तब तक आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए आत्म-ज्ञान तो बहुत दूर की चीज रही, सबसे पहले यह जानना सीखो कि सम्बन्ध-विच्छेद किस प्रकार हो। सम्बन्ध-विच्छेद के लिए देहाभिमान की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। शरीर के साथ तादात्म्य ही देहाभिमान का लक्षण नहीं।

जीवन को संयत और अनुशासित रूप में अनुभव करना और जीना देहाभिमान को दूर करने का एक तरीका है। इसलिए हम तो इतना ही कहेंगे कि संयत जीवन जीना सीखो, उसी से सब कुछ मिल जाएगा। संयत जीवन जीने के लिए साधना की आवश्यकता होती है।

शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि *'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'* ठीक है, हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब तक हम इस जगत् में रहते हैं, शरीर के द्वारा ही अपने धर्मों का पालन कर सकते हैं। अतः शरीर का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन शरीर और स्थूल जगत् के साथ हमारी जो आसक्ति रहती है, यह ठीक नहीं है। एक मोटर कार है, आप उसका ख्याल रखते हैं, समय पर पेट्रोल भराते हैं, समय पर मरम्मत कराते हैं, गन्दी हो जाए तो साफ करते हैं, इतना तो करना ही चाहिए। देह के साथ भी इतना ही करना चाहिए, क्योंकि यह एक माध्यम है, जिसके द्वारा हम जीवन के इस मार्ग में एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं।

जब हम अपने गन्तव्य स्थान में पहुँच जाते हैं, तो अपनी गाड़ी के साथ क्या करते हैं? चुपचाप पार्क कर देते हैं। उसी तरह आप सीख लीजिए कि देहाभिमान की पार्किंग किस तरह से होनी चाहिए।

इसका एक उपाय है साधना। दूसरा उपाय है योग। और तीसरा उपाय है संतुलित तथा संयत जीवन। जिस दिन हम इस विचारधारा को धारण कर एक संयत और संतुलित जीवन बितायेंगे, जिस दिन इस विचारधारा को हम जीवन्त रूप देंगे, उस दिन देहाभिमान टूट जायेगा, और मनोयोग निश्चित रूप से होगा।

यदि कोई हमसे द्वेष करे और हमारी विचारधारा को न भी समझे तो हम किस प्रकार हमेशा सकारात्मक और सृजनात्मक जीवन बिता सकते हैं?

एक कला होनी चाहिए जीवन में – *'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानपमानयोः।'* व्यक्ति को मान और अपमान में, शत्रु और मित्र के साथ, तथा हर प्रकार की

द्वन्द्वावस्था में स्वयं को संतुलित और अप्रभावित रखना सीखना होगा। हम लोग जीवन की हर परिस्थिति, हर घटना, हर विचार से प्रभावित हो जाते हैं। और जब हम प्रभावित हो जाते हैं, तब हमारी क्षमता क्षीण हो जाती है। हम कोई काम करना चाहते हों, और कोई हमसे कहे कि ए! तुम नहीं कर सकते, छोड़ दो यह काम। तो हम निराशा का अनुभव करते हैं, हमें विषाद घेर लेता है। यह व्यक्ति क्यों मुझे ऐसा कह रहा है। हम कागज पर कुछ अच्छा-सा लिखते हैं, और उसे मेज पर छोड़ देते हैं; कोई व्यक्ति आता है, पढ़ता है और कहता है, किस बेवकूफ ने यह लिख दिया। हमें तुरन्त चोट लगती है कि मुझे बेवकूफ कह रहा है, जबकि यह मेरी इतनी अच्छी कृति है।

प्रभावित होना हमलोगों का स्वभाव है। परिस्थितियाँ हमें प्रभावित कर देती हैं, दूसरे व्यक्ति हमें प्रभावित कर देते हैं, दूसरों के विचार हमें प्रभावित कर देते हैं। जब हम प्रभावित हो जाते हैं तब भूल जाते हैं कि अच्छा क्या है और बुरा क्या, क्योंकि हम अपने भीतर अपराध बोध को उत्पन्न कर देते हैं। अप्रभावित रहना एक कला है। इस कला को हम अपने जीवन में अपना सकते हैं ध्यान के द्वारा।

सबसे पहले, कौन-सी शक्तियाँ हमें प्राप्त हैं, और हममें कौन-सी कमजोरियाँ हैं, यह बोध हो। शक्ति तथा कमजोरी दोनों को देखते हुए, शक्ति को बढ़ाने और कमजोरी को दूर करने का प्रयत्न हो। अगर आत्मविश्वास की कमी है, तो वह एक कमजोरी है। अगर हम दूसरों से प्रभावित होते रहें, तो वह भी एक कमजोरी है। हम अपना निर्णय खुद नहीं ले सकते, हम खुद अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकते। यह तो इसी प्रकार की स्थिति है कि हम दो नावों पर पैर रख कर खड़े हैं। जब कभी दोनों नावें विपरीत दिशा में जायेंगी, तो क्या होगा? हम पानी के अन्दर। तो दो नावों में बैठने से फायदा क्या रहा? एक नाव में बैठो, और समर्पण का भाव रहे।

समर्पण का भाव आंतरिक सरलता का भाव है, इसे भूलना नहीं। आंतरिक सरलता या हृदय की सरलता जब तक हमें प्राप्त नहीं होती, हम समर्पण नहीं कर सकते। इसलिए अपने आपको जानने का प्रयत्न करते हुए, अपने सामर्थ्य और कमी को देखते हुए, दोनों को संतुलित बनाकर चलना और आंतरिक सरलता को धारण करना, तभी जीवन की विविध परिस्थितियों से अप्रभावित रह सकते हो; तभी मान और अपमान, राग और द्वेष, मित्रता और शत्रुता के मध्य सृजनात्मक जीवन बिता सकते हो।

मन एक बल्ब की तरह है। बल्ब जब जलता है तो उसका प्रकाश चारों तरफ फैलता है। लेकिन वही प्रकाश जब एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है, तब लेसर किरण का रूप धारण कर लेता है, जो लोहे को भी काट सकती है, और कागज को भी जला सकती है। इसको कहते हैं एकाग्रता, और एकाग्रता के पश्चात् अन्त में आती है ध्यान की स्थिति, जहाँ पर ध्याता, ध्येय और ध्यान की प्रक्रिया एक हो जाती है। यह जो सजगता और जागरूकता की प्रक्रिया है, इसे हम लोग कहते हैं प्रत्याहार। अंतर्मुखी होने के पहले सर्वप्रथम अपनी चेतना का बाह्य जगत् में विस्तार करना चाहिये। मान लीजिए आप नदी में तैरने जाते हैं। यदि आप अच्छे तैराक हैं, तो क्या आँख मूंद कर कूदते हैं नदी में? नहीं। अच्छा तैराक कभी आँख मूंद कर नदी में नहीं कूदता। सबसे पहले वह नदी के सामने खड़ा होता है। नदी की धारा को देखता है, किस ओर धारा है, कहाँ पर भँवर है, कहाँ-कहाँ पर चट्टान है। वह सब कुछ पहले देखता है, और जब उसे उस क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है तब वह तैरने के लिए नदी के भीतर प्रवेश करता है। यह जागरूकता की स्थिति है।

सजगता की इस स्थिति में हम सर्वप्रथम बाह्य जगत् में अपनी चेतना का विस्तार करते हैं; और अपने परिवेश, परिस्थिति तथा परिसर के प्रति सजग हो जाते हैं। और देखते हैं कि कहाँ पर हमारा मन आकृष्ट हो रहा है। विचार हमें किस दिशा में ले जा रहे हैं। हमारी इच्छाएँ किस तरफ जा रही हैं। हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ किस प्रकार की हैं। तब ही केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। मन की विक्षिप्त अवस्थाएँ एक बिन्दु पर केन्द्रित होनी शुरू होती हैं। जैसे-जैसे यह क्षिप्त-विक्षिप्त अवस्था एक बिन्दु पर केन्द्रित होने लगती है, वैसे-वैसे प्रत्याहार की स्थिति और भी प्रगाढ़ होती जाती है। अन्त में जब सभी क्षमताएँ एक बिन्दु में केन्द्रित हो जाती हैं, तो वह है धारणा का अभ्यास। जिस एकाग्र मानसिक अवस्था को हमने धारण किया, उसे कहते हैं धारणा। वही एकाग्र अवस्था मानसिक परिवर्तन करती हुई, हमें ध्यान की अवस्था में पहुँचाती है।

अत: मानसिक आरोग्य, भावनात्मक स्वास्थ्य और विचारों को सकारात्मक एवं सृजनात्मक बनाने हेतु सबसे पहले आँखें बन्द नहीं करनी चाहिये। सबसे पहले चारों ओर एक नजर दौड़ा लेनी चाहिये कि हम किस बिन्दु पर खड़े हैं, या हमारी क्या प्रतिक्रिया हो रही है। यह प्रत्याहार की स्थिति है। इसके पश्चात् ही आगे बढ़ना उचित है।

यही धारणा है जिससे मन में परिवर्तन होता है, और जब इस प्रकार के अभ्यासों से वैराग्य की स्थिति उत्पन्न कर, विवेक की स्थिति में स्वयं को स्थित कर हम विषयाकर्षण से स्वयं को अलग रखने लगते हैं, विषयाकर्षण के प्रति जागरूक हो जाते हैं, तब विचारों में परिवर्तन होता है। विचार सकारात्मक और सृजनात्मक बनते हैं। और ये विचार इतने शक्तिशाली होते हैं कि ये मनुष्य को ही नहीं, समाज तथा संसार को बदल देने में सक्षम होते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं हमलोगों के सामने। क्या संत-महात्माओं ने ज्ञान के बल पर ही समाज को बदला है? पण्डित भी तो ज्ञानी होते हैं। तोता, जो सम्पूर्ण शास्त्र को कंठस्थ कर लेता है, वह भी तो मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है।

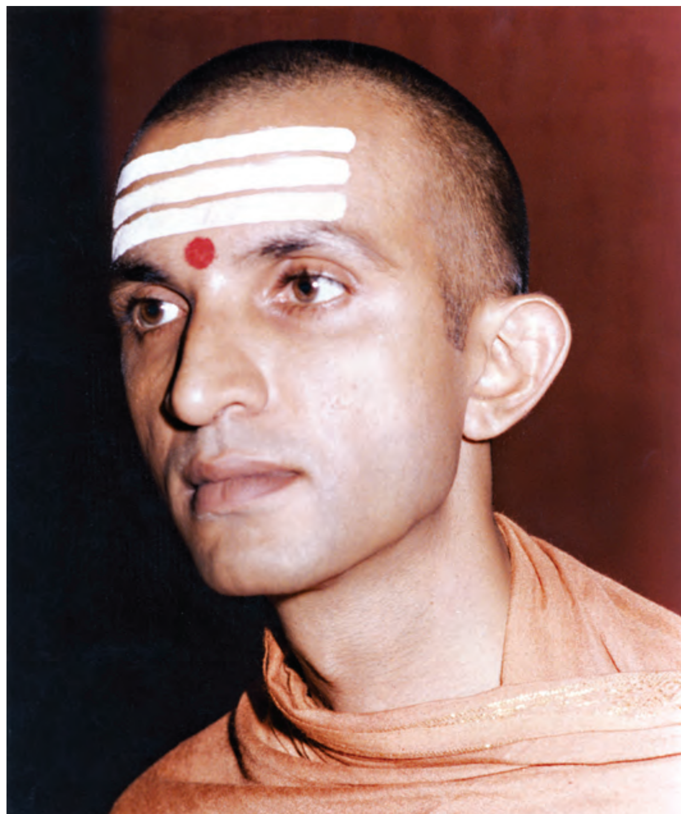
एक बार हमारे आश्रम में एक आदमी एक तोता लेकर आया, और कहने लगा कि स्वामीजी, आपको कुछ सुनायेंगे। हमने कहा, ठीक है, सुनाइये। तोते के सामने उसने कहा, *'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं'।* और उसके बाद तोते ने पूरा ईशावास्य उपनिषद् रट दिया। अन्त में उस महानुभाव ने हमसे पूछा कि स्वामीजी, आप मानते हैं न कि यह तोता महान् पण्डित है। हमने कहा, जी हाँ, पण्डित जरूर है। आपसे भी बढ़कर है और हमसे भी। लेकिन उसके पाण्डित्य में एक ही कमी रह गयी है, वह जो बोल रहा है उसे समझ नहीं पा रहा है।

ज्ञान के द्वारा हम समाज को, व्यक्तित्व को, और संसार को नहीं बदल सकते; क्योंकि उस ज्ञान का अनुभव तो हमें है नहीं। एक कहानी आती है। एक राजमिस्त्री धन कमाने के लिए दूसरे देश में गया। और वहीं पर उसकी मृत्यु हो गयी। उसके एक परिचित ने उसके बेटे को पत्र लिखा कि तुम्हारे पिताजी नदी के बीच में जल कर मर गए। बेटा बड़े असमंजस में पड़ गया कि पिताजी नदी के बीच में कैसे जल गए। उसने अनेक लोगों से इसका मतलब पूछा। पूछा कि नदी के बीच में कोई जला है आज तक? सब ने कहा नहीं, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। जरूर कुछ भूल हुई है। अंत में पिता जी का एक मित्र आया। वह भी कारीगर था। उसने पूछा, क्या हुआ? बेटे ने कहा, ऐसी-ऐसी बात हुई है। पिताजी दूसरे देश को गये थे, वहाँ से चिट्ठी आई है कि तुम्हारे पिताजी नदी के बीच में जल कर मर गए। मित्र ने कहा, यह संभव है। सब आश्चर्यचकित रह गये। कैसे संभव है? नदी के बीच तो आज तक कोई जला नहीं है। कारीगर ने कहा, देखो, वह कच्चा चूना नाव में ला रहा होगा। और कच्चे चूने में नदी का जल पड़ गया होगा। चूने और जल के

बीच रासायनिक क्रिया से जो ताप उत्पन्न हुआ होगा, उसी से जलकर मर गया बेचारा। तब कहीं लोगों ने स्वीकार किया कि हाँ, यह संभव है कि वह नदी के बीच जलकर मरा।

एक है अनुभवात्मक-ज्ञान और दूसरा है बुद्धिगम्य-ज्ञान। जब तक ज्ञान के द्वारा हम अपने व्यक्तित्व और विचार को नहीं बदल सकते, तब तक वह अधूरा है। जितने महान् संत हुए हैं, उन्होंने ज्ञान के बल पर नहीं, आत्म-संयम, विचारात्मक-संयम के बल पर ही संसार को परिवर्तित किया है।

इसलिए इस बात को याद रखना कि अगर प्रयत्न करना है किसी चीज के लिए तो आंतरिक, मानसिक और विचारात्मक संयम के लिए, ज्ञान के लिए नहीं। और जिस दिन तुम्हें यह प्राप्त हो जाएगा, उस दिन तुम महामानव बन जाओगे।



अनुशासन ही योग है

हमारे भीतर शक्ति और प्रतिभा छुपी हुई है, किन्तु अपने जीवन में इनका उपयोग करने के लिए, सबसे पहले इन्हें जाग्रत करना होगा। लेकिन इसके पूर्व, हमारे भीतर चिन्ता और तनाव की जो परतें हैं, उन्हें हटा कर अपने व्यक्तित्व के मध्य एक ऐसे स्थान में पहुँचना होगा, जहाँ पर कर्म सकारात्मक हों, दृष्टिकोण व्यापक हो, और अशान्ति नहीं शान्ति हो; विक्षिप्तता नहीं मानसिक एकाग्रता हो।

तनावमुक्ति हेतु योगनिद्रा

अपने जीवन में हम लोग यह देखा करते हैं कि किसी वस्तु या लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ में उत्साह, प्रयत्न और पुरुषार्थ रहता है, लेकिन एक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जहाँ पर हम अपने आपको तनाव से ग्रस्त और विक्षिप्त अनुभव करते हैं, अपने भीतर अकर्मण्यता के भाव को देखने लगते हैं, निराशा की अनुभूति हमें होने लगती है।

जब इस प्रकार की परिस्थिति हमारे जीवन में आती है तब उस समय वह कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा हम इस तनावपूर्ण और विक्षिप्त अवस्था को दूर करके पुन: शान्त और एकचित्त मानसिक स्थिति को प्राप्त करें? योग में इसका उपाय बताया गया है – योगनिद्रा।

योगनिद्रा के बहुत-से आयाम होते हैं। सबसे पहले आप इस बात को समझ लीजिए कि योगनिद्रा का अर्थ क्या होता है। निद्रा का अर्थ तो हम लोग जानते ही हैं। रात्रि के समय हर व्यक्ति, हर प्राणी सोता है। इस निद्रा की स्थिति में क्या होता है? शरीर विश्राम प्राप्त करता है। उसमें ऊर्जा का संचार होता है। दिन के समय जिस शक्ति का व्यय हम लोग करते हैं, उसे रात्रि

के समय पुन: प्राप्त करते हैं। थकान मिटती है। मन परेशानी और चिन्ता के विषय से दूर हो पुन: अपनी खोयी हुई शक्ति को प्राप्त करता है और दूसरे दिन हम पुन: अपने सामान्य कार्य में भिड़ जाते हैं।

बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि आठ-दस घण्टे सोने के पश्चात् भी हमारे भीतर तनाव और थकान बनी ही रहती है, और इच्छा होती है कि हम कुछ घण्टे और सो जायें। मनोविज्ञान के अनुसार मन को विश्राम देने की अलग-अलग प्रक्रिया होती है। पहली शिक्षा हमें मिलनी चाहिए कि हम किसी तरीके से रात्रि के समय अपने शरीर और मन को एक ऐसी अवस्था में ले जायें, जहाँ किसी प्रकार के चेतन, अवचेतन या अचेतन तनाव या विकार उत्पन्न न हों। सामान्य निद्रा में इस अवस्था का अभाव रहता है।

सामान्य निद्रा को योग की भाषा में भोगनिद्रा कहते हैं, और जहाँ पर पूर्ण विश्राम की अनुभूति हमें हो, उसे कहते हैं योगनिद्रा। योगनिद्रा और भोगनिद्रा में यह भेद है, क्योंकि जब आप रात्रि को बिस्तर में सोने के लिए जाते हैं तो कभी अकेले नहीं रहते, पूरा संसार आपके विचारों में व्याप्त रहता है। घरेलू समस्याएँ, बच्चों की चिन्ता, अपने व्यवसाय या कार्यालय की चिन्ता रहती है। इन सब परेशानियों को लेकर आप सोने के लिए जाते हैं, इसलिए कभी अकेले तो रहते नहीं। अकेले सोना सीखना पड़ेगा। बाह्य परिस्थितियों एवं विचारों से यह सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। जब तक इस प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता तब तक मनुष्य विश्राम प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए योगनिद्रा में शनै:-शनै: अपने मन को स्थूल से सूक्ष्म अनुभवों में स्थापित करते हैं। जब स्थूल अनुभवों के क्षेत्र से हमारा मन गुजरता है तब शरीर तथा उसके विभिन्न अंगों में व्याप्त तनाव को हम जानने लगते हैं। शरीर की विभिन्न अवस्थाओं को समझने लगते हैं। मन के भीतर उत्पन्न होते विचारों को रोक कर, मन की क्रियाशीलता को एक दिशा प्रदान करते हैं कि भाई, तुम अब इस केन्द्र में अपने ध्यान को केन्द्रित करो; इस प्रकार के विचारों को लाओ; इस प्रकार की कल्पना करो।

मन को निर्देश दिये जाते हैं कि तुम यह कार्य करो। जब मन को सकारात्मक निर्देश दिया जाता है तब उसकी चंचलता समाप्त होती है। अगर घोड़े पर हम लोग सवारी करते हैं तो उसे निर्देश देते हैं न? दौड़ो, चलो, दाहिनी तरफ मुड़ो, बायीं तरफ मुड़ो। अगर घोड़े को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो? वह अपनी मनमर्जी करेगा। मन भी जंगली घोड़े की तरह मनमर्जी करता है, और

उस पर किसी का नियन्त्रण नहीं रहता। लेकिन जब हम मन को एक दिशा देने लगते हैं; उसके भीतर एक विचार उत्पन्न करने लगते हैं; उसे निर्देश देते हैं कि तुम इस प्रकार के अनुभव को जाग्रत करो, तब ही यह संयत होता है। यही योगनिद्रा का सिद्धान्त है।

संयम और अनुशासन

जब मन संयत होता है तब तनाव और चिन्ता की जो परतें हमारे भीतर छायी हुई हैं, उन्हें दूर करने के पश्चात् अंतश्चेतना में गोता लगाकर, आंतरिक प्रतिभा विकसित होती है। तब दुनिया में कोई ऐसा ज्ञान नहीं, जिसे हम प्राप्त नहीं कर सकते; कोई ऐसा काम नहीं, जिसे हम सफलतापूर्वक पूर्ण नहीं कर सकते।

हर प्रकार की शक्ति, हर प्रकार की क्षमता हमारे भीतर है, केवल हम उसे जान नहीं पाते, क्योंकि अभी हमारा जीवन अनुशासित और संयत नहीं है। अभी हमारे जीवन में अराजकता, अनुशासनहीनता और तनाव हैं। इन्हीं तीनों के कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उसके कारण आज हम अपने जीवन से पीड़ित और दु:खी रहते हैं। कभी किसी रोग के कारण दु:खी रहते हैं, तो कभी किसी मानसिक समस्या के कारण। कभी अपने ही जीवन का अवलोकन करते समय दु:ख का अनुभव करने लगते हैं कि मैंने जो चाहा, वह पाया नहीं।

जीवन में अनुशासनहीनता तथा अव्यवस्था के कारण ही सभी प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिए योग एक स्पष्ट विचारधारा को धारण कर चलता है। अपने जीवन में एक अनुशासन को लागू करना ही योग है। जीवन में जब इस अनुशासन को लागू किया जाता है तब संयम और आत्म-नियन्त्रण की जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे चित्तवृत्ति-निरोध कहते हैं।

योग – मन का विज्ञान

वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में योग की भूमिका अत्यन्त विशाल है, इसलिए आप इस बात को अच्छी तरह से समझ लीजिए कि योग क्या है, क्योंकि आजकल योग के नाम पर अनेक प्रकार के अभ्यासों को सिखाया, समझाया, बताया जाता है, और लोगों की कुछ ऐसी विचारधारा हो गयी है कि वे योग को मात्र शारीरिक व्यायाम मानते हैं, या मात्र आत्म-ज्ञान को प्राप्त करने का मार्ग मानते हैं। लेकिन हम लोगों का अनुभव रहा है कि योग सर्वश्रेष्ठ मनोविज्ञान

तथा आत्म-विज्ञान है, क्योंकि जीवन में सभी प्रकार के कर्मों, इच्छाओं, वासनाओं एवं पुरुषार्थ की शुरुआत; तथा करुणा, दया, प्रेम, ईर्ष्या, राग, द्वेष इत्यादि की उत्पत्ति मन से ही होती है। जब तक मन को ठीक नहीं किया जाता, जब तक स्वयं को एकाग्रचित्त होने का तरीका नहीं सिखाया जाता, तब तक मन इस प्रकार के अंकुर, पौधे, वृक्ष और फल उत्पन्न करता ही रहेगा। कभी हम राग का फल खाते हैं, तो कभी द्वेष का। कभी सकारात्मक विचारों को जन्म लेते देखते हैं, तो कभी नकारात्मक विचार प्रबल हो हमारे जीवन को झकझोर देते हैं। इस सबका मूल केन्द्र है मन।

योग को मनोविज्ञान तथा आत्मविज्ञान इसीलिए कहा गया है कि इसका लक्ष्य मन को नियंत्रित रखना होता है। जब यह मन अपने नियंत्रण में आ जाए, तब व्यवहार, आचरण, विचारधारा, दृष्टिकोण तथा कर्म बदलते हैं। अभी हमारे जीवन में आत्म-शक्ति, संकल्प-शक्ति और क्रिया-शक्ति की जो कमी है, वह दूर हो जाती है। हम वास्तव में मानवीय-मूल्यों से परिपूर्ण जीवन बिताने लगते हैं।

योग के विभिन्न आयाम

जब हम मानवीय-मूल्यों से परिपूर्ण जीवन बिताने लगते हैं तब योग मनोविज्ञान से आत्मविज्ञान में परिणत हो जाता है। इसके अनेक दरवाजे हैं। एक दरवाजा है हठ योग का, दूसरा है राज योग का, तीसरा है भक्ति योग का, चौथा है ज्ञान योग का। चुनाव कर लीजिए कि हमें किस दरवाजे से अपने अन्दर प्रवेश करना है।

हमलोगों का जो जीवन क्षेत्र है, वह अनंत और विशाल है। इसकी बाहरी सीमा पर ही हम लोग चक्कर काटते रहते हैं, और वहीं हमारी जिन्दगी बीत जाती है। लेकिन जिस दिन एक दरवाजे के द्वारा हम अपने जीवन के केन्द्र में जाने का प्रयत्न करेंगे, उस दिन हमारे जीवन में पूर्ण रूप से परिवर्तन होगा। हर व्यक्ति अपनी विचारधारा, व्यक्तित्व तथा गुण के अनुरूप एक मार्ग का चुनाव करता है। अगर कोई व्यक्ति शारीरिक रोग से पीड़ित है, तो व्याधि एक माध्यम बन जाती है उसके द्वारा योग को अपनाए जाने की। कोई व्यक्ति अगर मानसिक रूप से अशान्त है, तो वह अशान्ति ही योग में प्रवेश पाने का एक माध्यम बन जाती है। इतना तो निश्चित है कि जब तक हम अपने जीवन में भीषण रूप से थप्पड़ नहीं खाते, तब तक हमारे विचार नहीं बदलते।

जब हम दु:ख या क्लेश का सामना करते हैं, जब हमारे ही घर में हमारी दुनिया उलट जाती है, तब स्वयं को असहाय महसूस करते हुए हम किसी ओर आकृष्ट होते है। यह बात केवल मैं नहीं कह रहा हूँ, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है भगवद्गीता। गीता के प्रथम अध्याय का नाम है 'विषाद योग' और दूसरे अध्याय का नाम है 'सांख्य योग'। अब देखिए, कहाँ विषाद और कहाँ सांख्य! जिस प्रकार से हनुमान जी ने समुद्र पार किया था, उसी प्रकार से यहाँ पर भगवान् कृष्ण ने विषाद से सांख्य में आकर बीच के समुद्र को पार किया है। सांख्य एक दर्शन, एक विचारधारा, एक सिद्धान्त है। अर्जुन के जीवन में जो विषाद हो रहा था, उसे दूर करने के लिए उन्होंने सांख्य का सहारा क्यों लिया? भगवान कृष्ण सीधी बात अर्जुन को कहते कि तुम फालतू की चिन्ता कर रहे हो। सीधे ग्यारहवें अध्याय में पहुँच जाते, अपना विराट् रूप दिखा देते कि देखो, मैं ही सब कुछ हूँ, अत: तुम युद्ध करो। इतनी लम्बी-चौड़ी गीता की क्या आवश्यकता थी?

अठारह अध्यायों के उपदेश की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि विषाद या दु:ख के पीछे एक रहस्य, एक कारण होता है। विषाद का एक केन्द्र होता है, और वह केन्द्र हमारे मन के भीतर है। उसे जानने और समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम कदम-पर-कदम चलकर स्वयं को, स्वयं के व्यक्तित्व, क्षमताओं एवं कमियों को समझें, और समझ कर अपने विचारों को, अपने जीवन को बदलने का प्रयास करें।

हर व्यक्ति के जीवन में सामर्थ्य है, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन हर व्यक्ति के जीवन में कमी भी है। हम लोग अपनी कमी को स्वयं से छुपाकर जिस सामर्थ्य को अभी जान नहीं सके हैं, उसे जानने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु परिवर्तन को लाने के लिए यह आवश्यक होता है कि हम अपने जीवन के प्रत्येक स्तर को ज्ञान-चक्षु से देखें। यह ज्ञान-चक्षु किसी दिव्य-चक्षु या सर्वज्ञता का लक्षण नहीं है, बल्कि विवेकपूर्ण और व्यावहारिक दृष्टिकोण है, जिसके द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि हम अपने जीवन को और अधिक पूर्ण बनायें, क्योंकि यही शिक्षा हमारे मनीषियों ने हमें दी है। यही शिक्षा हमारे दर्शनों में भरी पड़ी है। हम लोग अपनी प्रार्थना में भी इसी शिक्षा को दोहराते हैं। ईशावास्य उपनिषद् का शान्ति मन्त्र है –

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इसका क्या अर्थ होता है? रामायण में पढ़ते हैं, 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी।' ये हैं छोटे-छोटे वाक्य, लेकिन इनका अर्थ गूढ़ है। इनका सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत जीवन से है, हम यह समझते भी हैं, लेकिन अपने जीवन में उतार नहीं पाते। उतारें कैसे? गाड़ी को चलायें कैसे? इंजन में चाबी लगी है, लेकिन चालू करना नहीं आता, हैण्ड ब्रेक छोड़ना नहीं आता, गियर बदलना नहीं आता।

इसलिए योग जीवन को एक शिक्षा-क्षेत्र के रूप में देखता है। योग कहता है कि तुम कभी पूर्ण जीवन नहीं जीते हो, और पूर्ण जीवन न जीने के कारण ही दु:ख, क्लेश, व्याधि, तनाव और जन्म-मृत्यु-चक्र में फँसे रहते हो। जिस दिन पूर्ण जीवन जीना सीखोगे, जो तुम्हारे लिए सकारात्मक तथा परिवार, समाज एवं विश्व के लिए कल्याणप्रद सिद्ध हो, उस दिन मान लेना कि मैंने जीवन में सार्थकता और पूर्णता का अनुभव किया है।

महर्षि पतंजलि से, जिन्हें योग के प्रणेता के रूप में देखा जाता है, जब पूछा गया कि योग क्या है, तो उन्होंने एक ही सूत्र में इसका जवाब दिया– *'अथ योगानुशासनम्।'* योग एक अनुशासन है। उन्होंने यह नहीं कहा कि योग शरीर-विज्ञान है, या भक्तियोग ही योग है। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि योग ईश्वर को प्राप्त करने का एक माध्यम है। एक ही शब्द का प्रयोग किया उन्होंने, अनुशासन। वह अनुशासन जो स्थूल-से-स्थूल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हो, जिसके द्वारा हमारा जीवन संयत हो, उसे योग कहते हैं। फिर उनसे पूछा गया कि अनुशासन को प्राप्त करने के बाद क्या होगा। तो उन्होंने एक सूत्र में ही इसका जवाब दिया– *'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:।'* योग-अनुशासन के द्वारा तुम अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर पाओगे। यहाँ विरोध शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अपने चित्त का विरोध नहीं करना है। अवरोध शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ है। अपने चित्त की जो वृत्तियाँ हैं, उन्हें अवरुद्ध भी नहीं करना है। उनका निरोध करना है। यह निरोध ही अनुशासन का परिणाम है। फिर जब उनसे पूछा गया कि इस निरोध से क्या प्राप्ति होती है, तब उन्होंने जवाब दिया– *'तदाद्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्'* कि मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

यह आत्मस्वरूप क्या है? आत्मस्वरूप कोई दार्शनिक विचारधारा नहीं है। यह जीवन रूपी सितार के सभी तारों को मिलाकर बजाने का सिद्धान्त है। रथ में अनेकों घोड़े जुते हैं, लेकिन वे सभी लगाम के द्वारा एक ही

हाथ से नियन्त्रित होते हैं। जीवन की सभी अवस्थाओं एवं अनुभवों में जब संयम की लगाम लगी रहे, और इन लगामों का नियन्त्रक मानव, जाग्रत और विवेकपूर्ण होकर जब पूर्ण सजगता के साथ आत्म-विकास के पथ पर चलने लगे, तब उसे कहते हैं आत्मस्वरूप में स्थित मनुष्य। ऐसे ही मनुष्य को भगवान् कृष्ण ने संयमी मानव का नाम दिया है, योगी की उपमा प्रदान की है। वे कहते हैं- हे अर्जुन! वही मनुष्य योगी है जो अपने मन की प्रतिक्रियाओं पर संयम की लगाम लगा कर, जीवन को अपने नियन्त्रण में रख कर चले। ऐसा ही मनुष्य मुझे प्रिय है।

तो यह योग है। अब पुन: इसके पूर्व के बिन्दु पर हम लोग आते हैं कि इस योग की अवस्था तक पहुँचने के लिए आप अपने व्यक्तित्व, विचार और आवश्यकता के अनुसार जिस किसी मार्ग का चयन करें; चाहे वह हठयोग का मार्ग हो या राज योग का या अन्य किसी योग का, वही आपको जीवन में सफलता प्रदान करने में सक्षम है। एक योग दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। योग की किसी एक प्रक्रिया में प्रवीणता पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए, तभी हम जीवन की वर्तमान तनावपूर्ण स्थिति तथा मानसिक एवं शारीरिक संतापों का निराकरण कर पायेंगे, अन्यथा नहीं।



आत्मज्ञान का साधन – योग

योग एक साधन है, जिसके द्वारा हम अपने जीवन को पूर्ण बनाकर, शरीर, मन, भावना और बुद्धि को संतुलित बनाकर, जीवन के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं। योग का समाज में यही वास्तविक प्रयोजन है। हमारी परम्परा हमें यह शिक्षा देती है कि जीवन में अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष का समन्वय होना चाहिए। जब इन चारों का समन्वय होता है, तभी हम अपने इस मानव-जीवन के लक्ष्य को पूरा कर पाते हैं। अगर हम एक या दो पक्षों को ही अपनाकर चलते हैं, तो हमारा मानव-जीवन अधूरा ही रहता है। लेकिन समाज ने इन चार अंगों को दो भागों में विभक्त कर दिया, और कहा कि सांसारिक लोगों के लिए अर्थ और काम का मार्ग है, तथा जो व्यक्ति संसार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहते हैं, त्याग का मार्ग अपनाना चाहते हैं, उनके लिए धर्म और मोक्ष का मार्ग है।

जिस दिन यह विभाजन हुआ, हमारा जीवन खण्डित हो गया, विक्षिप्त हो गया, और हम पतन की ओर बढ़ने लगे। इसी का परिणाम आज हम अपने जीवन में देखते हैं। हम अपने शरीर को ही सब कुछ मान बैठे हैं, लेकिन यह रोग से पीड़ित रहता है। मन को सब कुछ मान बैठे हैं, लेकिन वह अशान्त है। इन सबके साथ हमारी इच्छा होती है कि हम स्वास्थ्य और शान्ति प्राप्त करें, लेकिन जीवन के टूटे हुए तारों को हमने जोड़ा नहीं है। जिस दलदल में हम फँसे हुए हैं, उसी में फँसे रह कर हम यह कल्पना करते हैं कि हम शुद्ध और पवित्र हैं।

सबसे पहले तो आपको यह विचारधारा बदलनी होगी, और अपने जीवन में इन चार अंगों को जोड़ना पड़ेगा, केवल दो को अंगीकार करने से काम नहीं चलेगा। जब हम इस विचार को आत्मसात् कर लेंगे, तभी अपने जीवन

में सकारात्मक और सृजनात्मक परिवर्तन ला पायेंगे। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि बहुत लोग मेरे पास आते हैं, और यही कहते हैं – स्वामी जी, मुझे यह तकलीफ है, वह तकलीफ है, मानसिक अशान्ति है, मैं क्या करूँ? आप कुछ कर दीजिए कि मेरा काम हो जाए, फिर मैं आपको सहयोग दूँगा।

हम यहाँ पर आपसे सहयोग लेने नहीं आए हैं, हम आपको एक ऐसे विज्ञान, एक ऐसी विद्या के बारे में बतलाने आए हैं, जो आपकी अपनी है, जो कभी पुरानी नहीं होती, जो सनातन है। लेकिन हम लोग इस विद्या को, इस विज्ञान को भूलते जा रहे हैं। अगर हमें आपका सहयोग चाहिए तो एक ही बिन्दु पर। आप यह संकल्प करें कि हम अपने इस विज्ञान को सही तरीके से समझेंगे और इस विद्या को अपने जीवन में अपनायेंगे।

योग – जीवन जीने की कला

यह विद्या न शारीरिक है न मानसिक, बल्कि जीवन जीने की एक कला है। जब हमें इस कला का ज्ञान नहीं रहता, तब हमारे जीवन में असंतुलन, व्याधि, विकार, तनाव, भय, चिन्ता, परेशानी, बेचैनी आदि उत्पन्न होती है। अभी आपने कार्यक्रम के पूर्व एक बहुत-ही सुन्दर नृत्य देखा। दिखने में तो बहुत सुन्दर लग रहा था, और प्रत्येक व्यक्ति का दिल भर उठा था उस नृत्य को देख कर, लेकिन किसी ने यह नहीं सोचा कि उस नृत्य को सिद्ध करने के लिए कितनी साधना करनी पड़ी होगी। क्या कोई मंच पर चढ़ते ही नाचने लग जाएगा? क्या हारमोनियम को पास रखते ही कोई गाने लग जाएगा? नहीं, साधना की आवश्यता होती है। जहाँ तक हमारा अनुभव रहा है, मनुष्य जीवन में साधना की कमी है। हम बिना साधना किये उपलब्धि चाहते हैं। बीमार हम हैं, लेकिन चाहते हैं कि दवाई कोई और खा ले, और हम ठीक हो जायें। जब हमारे भीतर इस प्रकार की विचारधारा है, तो अन्त में इसका क्या परिणाम होगा?

यही एक समस्या है, जिसका हम हमेशा अनुभव करते हैं। कम-से-कम जो व्यक्ति हमारे पास अपनी समस्याएँ लेकर आते हैं, उनमें तो हम साधना की इसी कमी को देखते हैं। जब इस प्रकार की कमी को देखते हैं तो योग-सूत्रों का एक सूत्र हमें स्मरण हो आता है – *स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।* जिस अभ्यास को दीर्घकाल तक किया जाए, जिस अभ्यास के प्रति हमारी श्रद्धा रहे, आस्था रहे, उसे करने से ठोस आधार निर्मित होता है। जब

हमें इस जीवन में यह ठोस आधार मिलता है तब हम अपने दूसरे जीवन की ओर कदम बढ़ा सकते हैं, क्योंकि मनुष्य का जीवन तो बहुआयामी जीवन है।

हम लोग भौतिकवाद से सम्मोहित होकर अपने दूसरे रूप को भूल चुके हैं, लेकिन जब हमारी जिन्दगी में एक प्रयास की शुरुआत होती है, और उस अभ्यास को हम धैर्यपूर्वक, श्रद्धा-भावना के साथ दीर्घकाल तक करते हैं, तब हमारी विचारधारा, व्यवहार, दृष्टिकोण, आदर्श और दर्शन में कुछ परिवर्तन होते हैं।

योग की शुरुआत इसी सूत्र से होनी चाहिए। यह हमारा मत है। केवल आसन-प्राणायाम, जप-ध्यान करके हम स्वयं में परिवर्तन नहीं ला सकते। गाड़ी चलानी नहीं आती, उसे नियंत्रण में रखना नहीं आता, लेकिन चलाने के लिए बैठ जाते हैं। अन्त में परिणाम होता है – दुर्घटना। और अगर गाड़ी को नहीं चलाते, तो चाहे आप आधा घण्टा उसमें बैठे रहिए, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

योग एक अनुशासन की प्रक्रिया है, जिसको अपनाने से हम अपने शरीर को, अपनी जीवन-पद्धति को संयत और संतुलित बनाकर आगे बढ़ सकने में सक्षम हो जाते हैं। योग के जो विविध अभ्यास हैं, वे तो मात्र माध्यम हैं, जिनके द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को समझ सकें, क्योंकि अंततोगत्वा परिवर्तन व्यक्तित्व और विचारधारा में होना है। मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि जब शरीर व्याधि से पीड़ित रहता है, तब शारीरिक पीड़ा से अधिक भयंकर पीड़ा मन में उत्पन्न होती है। शरीर में एक फुँसी हो जाती है तो वही फुँसी मन के भीतर कैंसर का रूप धारण करती है। समस्या छोटी रहती है, लेकिन हमारे मन के भीतर वह विशाल अट्टालिका का रूप धारण कर लेती है। जब इस प्रकार का हमारा मन है, जो तिल को ताड़ बना देता है, तब रोग चाहे शारीरिक हो या मानसिक, उसका निराकरण कैसे होगा?

योग द्वारा असाध्य रोगों का निराकरण

मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ, जो मुझे अत्यन्त प्रिय है। ऑस्ट्रेलिया में कुछ वर्षों पूर्व कैंसर के छः ऐसे मरीजों पर योग का प्रयोग किया गया था जिनके लिए कोई उपाय नहीं बचा था, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की सभी पद्धतियाँ विफल हो गयी थीं। कैंसर शोध संस्थान के जो प्रमुख चिकित्सक थे, उन्होंने मरीजों से कहा कि अब दवाई का भरोसा छोड़ दो, हम लोग एक और प्रयास

करते हैं, और वह प्रयास रहेगा योग का। सबसे पहले योगनिद्रा का अभ्यास कराया गया। योगनिद्रा का अभ्यास शिथिलीकरण का अभ्यास है। शरीर और मन को विश्राम देने की प्रक्रिया है, जिसमें मन स्थूल अवस्था को पार करके सूक्ष्म अवस्था में प्रवेश कर पूर्ण विश्राम का अनुभव करने लगता है। तनावमुक्त अवस्था का अनुभव करने लगता है। फिर प्राणायाम का अभ्यास कराया गया। प्राणायाम के बारे में लोग कहते हैं कि इससे प्राण जाग्रत होता है। अवश्य होता है, लेकिन इसका एक शारीरिक पक्ष भी है, जो हमारे स्नायु-संस्थान की उत्तेजना को शान्त करता है। फिर अजपाजप का अभ्यास कराया गया। अजपाजप की क्रिया होती है श्वास के साथ मन्त्र को जोड़कर, उसका जप करना। जिसके बारे में कबीरदास जी कहते हैं-

ऐसा जाप जपो मन लाई, सोऽहं सोऽहं सुरता गाई ।
छः सौ सहस्र इक्कीसौ जाप, अनहत उपजै आपै आप ॥

इस अजपाजप की क्रिया में मन इस प्रकार केन्द्रित हो जाना चाहिए कि सुरता, अर्थात् श्वास के साथ चौबीसों घंटे मंत्र-जप चलता रहे।

मात्र इन तीन अभ्यासों से उन मरीजों को जो फायदा हुआ, उसके बारे में इतना ही कहना पर्याप्त रहेगा कि जिनकी मात्र छः महीने की जिन्दगी बाकी थी, उन्हें जीते हुए आज चौदह साल से अधिक हो गये हैं। उन्हें देखने से विश्वास नहीं होता कि वे कभी कैंसर से पीड़ित हो मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे।

अब यहाँ पर क्या बतलाया गया? न आसन बतलाया गया, आसन के बदले कहा गया चुपचाप सो जाओ, योगनिद्रा का अभ्यास करो। न ही हठ योग या राज योग की शिक्षा दी गयी, केवल कहा गया कि प्राणायाम करो। एक नाक से श्वास अन्दर खींचो, दूसरी से छोड़ो। और ध्यान का एक अभ्यास कराया गया। लेकिन चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इन तीन अभ्यासों से वे मरीज जब शारीरिक तनाव से मुक्त हो गये, तब शरीर के प्रतिरक्षा-संस्थान में प्राणायाम के द्वारा शक्ति का संचार किया गया। जब शरीर के भीतर शक्ति का संचार हुआ, तब बिना किसी प्रयास के अपने आप रोग के निराकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी। ध्यान के द्वारा मन से बीमारी और मृत्यु के भय को हटाया गया। और वे मरीज छः महीने के भीतर ही ठीक हो गये।

आज वे पूर्ण रूप से स्वस्थ हैं, इससे यह साबित होता है कि शरीर को हम कहीं और से नियन्त्रण में रख सकते हैं। योग कहता है कि शरीर का संचालन

मन से होता है, पर मन को अपने नियन्त्रण में लाने की आवश्यकता होती है। जब मन हमारे नियन्त्रण में आ जाता है तब शरीर और मन के बीच एक सामंजस्य की स्थापना होती है, जो जीवन के लिए सकारात्मक एवं उपयोगी सिद्ध होती है। इसलिए पहले हमने आपको कहा कि योग की शुरुआत न राज योग से होती है, न हठ योग से, न कर्म योग से, न भक्ति योग से। योग एक मनोविज्ञान और आत्मविज्ञान है। मनोविज्ञान इसलिए कि योग यह मानता है कि हमारे भीतर इस प्रकार की एक शक्ति छुपी हुई है, जिसे नियन्त्रण में ले आने से सभी प्रकार के तनाव, क्लेश और दुःख समाप्त हो जाते हैं। और आत्मविज्ञान इसलिए कि जीवन के टूटे हुए तार योगाभ्यास से जुड़ जाते हैं और जीवन में पूर्णता का अनुभव होने लगता है।

योग के तीन आयाम

योग के तीन पक्ष होते हैं – शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। इसके शारीरिक पक्ष में आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, षट्-कर्म इत्यादि अभ्यास आते हैं, जो हठ योग तथा राज योग के अंग हैं। मानसिक पक्ष में प्रत्याहार की क्रियाओं, धारणा के अभ्यासों, कर्मयोग की भावना तथा भक्तियोग की विभिन्न अवस्थाओं का समावेश होता है। इन अभ्यासों के द्वारा मन, भावना, विचार और व्यवहार को परिमार्जित किया जाता है। जब ये शुद्ध, पवित्र और निर्मल हो जाते हैं तब कर्मों में परिवर्तन होते हैं, कर्मक्षय की स्थिति आती है।

योग का तीसरा पक्ष है आध्यात्मिक, जिसका हम आपको केवल तरीका बतला सकते हैं, उपलब्धि नहीं। यह तो उसी प्रकार की घटना है जैसे अनेक वर्षों पूर्व एक वैज्ञानिक ने सायनाइड का स्वाद जानना चाहा था। जानता था कि अगर मैं चखूँगा तो मरूँगा, लेकिन फिर भी उसने सोचा मैं मरूँ तो क्या, विज्ञान को तो मेरे प्रयोग से एक लाभ होगा। लोगों को सायनाइड का स्वाद मालूम पड़ जाएगा। वह एक हाथ में सायनाइड से भरा गिलास और दूसरे हाथ में कागज-कलम लेकर बैठ गया। जल्दी से जहर का गिलास पीया, कागज में कुछ लिखा, और मर गया। दूसरे वैज्ञानिक कागज में लिखे गये शब्दों को देखने के लिए आये। एक ने कहा, सायनाइड का स्वाद खट्टा है। दूसरे ने कहा, नहीं, मीठा है। कागज में मीठा लिखा है। तीसरे ने कहा, नहीं, इसका स्वाद तो नमकीन है।

आपको मालूम कागज में क्या लिखा हुआ था? अंग्रेजी का केवल एक अक्षर 'एस' लिखा था। जिसका मतलब स्वीट (मीठा) भी हो सकता है, सॉल्टी (नमकीन) भी हो सकता है, सावर (खट्टा) भी हो सकता है। तो उस 'एस' को देखकर जो अपनी विचारधारा प्रस्तुत करने लगे, उनकी क्या उपलब्धि रही?

उपलब्धि तो एक ही व्यक्ति को हुई, जिसने उसके स्वाद को जाना, लेकिन जानकर फिर बता नहीं सका। यही योग का आध्यात्मिक पक्ष है – 'पी ले पी ले राम नाम रस प्याला, जिसको पीकर हो जा तू मतवाला।' यहाँ तक पहुँचने के जो उपाय बताए गये हैं, वे हैं राज योग, भक्ति योग, कुण्डलिनी योग तथा अन्य योगों के अभ्यास, क्योंकि इन अभ्यासों के द्वारा हम अपनी अतीन्द्रिय शक्तियों को जाग्रत करते हुए, एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर सीधा सम्पर्क जुड़ता है, तार जुड़ जाते हैं, करेंट दौड़ने लगता है, और ईश्वर-अनुभूति की स्थिति आती है। जो उस अवस्था को प्राप्त करता है, उसका वर्णन नहीं कर पाता, केवल उस मार्ग पर चलने की दिशा बता सकता है।

आप इस सम्मेलन में भाग लेकर योग के बारे में कुछ जानकारी ग्रहण करें, यह हमलोगों की इच्छा है, क्योंकि योग हमारी भारतीय परम्परा और जीवन का अभिन्न अंग रहा है। लेकिन आज स्थिति इस प्रकार की हो गयी है कि 'घर की मुर्गी दाल बराबर।' हम लोग योग से दूर होते जा रहे हैं। अत: हमारी इच्छा है कि आप लोग यथाशक्ति प्रयास करके अपनी परम्परा के विज्ञान को, विद्या को सीखें। पुन: जब आप इस विज्ञान को अपने जीवन में जोड़ पायेंगे, तब हमें यह कहने में गौरव होगा कि हमारा देश वास्तव में ज्ञान का देश है, जिसने पूरे जगत् को 'आत्मदीपो भव' का संदेश दिया।

जीवन-वृक्ष का आधार

एक माँ अपने बेटे को मकान के बगीचे की देख-रेख के लिए निर्देश देती है कि बेटा! मैं कुछ दिनों के लिए नगर से बाहर जा रही हूँ, मेरी अनुपस्थिति में तुम इस बगीचे का ख्याल रखना। उसका बेटा सहर्ष तैयार हो जाता है। कहता है–माँ, मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा। जब आप लौटकर आएँगी, तो देखेंगी कि आप के पेड़-पौधे खूबसूरत, स्वस्थ एवं हरे-भरे हैं। माँ चली जाती है, और बेटा पौधों की रखवाली शुरू करता है, लेकिन जब माँ नगर से वापस लौटती है तो अपने सभी पौधों को मुरझाया हुआ, कमजोर अवस्था में देखकर बहुत निराश होती है। पूछती है–बेटा! तुमने यह क्या किया? सब पेड़-पौधे मर रहे हैं। तुमने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया। बेटे ने कहा–माँ, मैंने जी-जान से आपके पौधों की सेवा की। रोज कपड़े से पौधों के पत्तों, फूलों और फलों को पोंछता था। उन पर धूल नहीं जमने देता था, और अगर उनके ऊपर कीड़े वगैरह दिखलायी देते थे, तो उन्हें मार देता था, ताकि वे पौधों को हानि न पहुँचा सकें। माँ ने पूछा–बेटा! तुमने मेरी अनुपस्थिति में पेड़ों की जड़ों में पानी डाला था? उसने कहा–नहीं माँ। यह तो मैंने किया ही नहीं।

यह कहानी हम सब के जीवन में घटित होती है। हम अपने जीवन में मात्र पत्ते, फल और फूल का ही ख्याल रखते हैं, जड़ का नहीं। यही कारण है कि हमारा जीवन-वृक्ष, हमारे जीवन का यह सुन्दर पौधा कमजोर रहता है। और इस पौधे में संकल्प-शक्ति, आत्मबल तथा आत्मविश्वास की कमी रहती है। इस पौधे की जड़ों में कमजोरी व्याप्त रहती है। यह पौधा रोगग्रस्त रहता है। हम अपने जीवन को सजाने-संवारने का प्रयत्न किस प्रकार करते हैं? शरीर रोगग्रस्त रहता है, तो दवाई के द्वारा शरीर को ठीक करने का प्रयास करते हैं।

मन रोगग्रस्त एवं तनावग्रस्त रहता है, तो हम प्रयत्न करते हैं कि किसी तरीके से हमें मानसिक विश्राम मिले, हमारी मानसिक विचारधारा में परिवर्तन हो। हम बाह्य रूप से जिन परिस्थितियों का सामना करते हैं, मात्र उन्हें ही ठीक करने का प्रयत्न करते हैं।

जड़ों की सिंचाई

विचार, व्यवहार, कर्म और संस्कार तो हमारे जीवन के पत्ते, फल और फूल मात्र हैं। जीवन की जड़ें कहीं और हैं, और जड़ों में हमने आज तक पानी नहीं डाला है। सम्भवत: यही कारण है कि मानव जीवन, समाज, देश तथा विश्व में अशान्ति एवं तनाव व्याप्त हैं। रोगों का अन्त दिखलायी नहीं देता, समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। जीवन में अराजकता फैल रही है। जीवन की इस जड़ को सुदृढ़ बनाने के लिए जिस जल का उपयोग किया जाता है, उसका नाम भारत के मनीषियों ने दिया है योग।

योग एक विद्या है, एक विज्ञान है, एक जीवन-पद्धति है जो हमारी भारतीय परम्परा एवं संस्कृति का अभिन्न अंग है। लेकिन अज्ञान और नासमझी के कारण, या भौतिक, तकनीकी जगत् से सम्मोहित होकर हम जीवन के इस सत्य को भूल रहे हैं। हम जीवन को सुधारने का प्रयत्न नहीं करते। योग-दर्शन का यह प्रयास रहता है कि जो बीता सो बीता, जो हो गया सो हो गया, लेकिन जब तुम्हारे मन में स्वयं के प्रति सजगता आती है, तब यह प्रयत्न करो कि जीवन में परिवर्तन हो। इसीलिए योग-दर्शन में विविध उपायों की चर्चा की गयी है, जिससे हमारे जीवन का सर्वांगीण विकास हो सके।

योग मात्र एक विचारात्मक सिद्धान्त नहीं है। कई बार ऐसे लोगों से हमारा परिचय होता है जो योग को मात्र वैचारिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। गीता में योग की परिभाषा है – *योग: कर्मसु कौशलम्।* कर्म में कुशलता ही योग है। कुछ लोग कहते हैं, योग ईश्वर अनुभूति को प्राप्त करने का साधन है। कुछ लोग कहते हैं कि योग तो मात्र शरीर विज्ञान है जिससे शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है, जीवन में आरोग्य का अनुभव हो सकता है। लेकिन योग की जो विविध धारणायें हमने अपने जीवन में अपना रखी हैं, हमारे मत से वे ठीक नहीं हैं। योग एक जीवन-पद्धति है, जिसका सम्बन्ध रहता है मनुष्य के व्यक्तित्व से, क्योंकि हम यह मानते हैं कि मनुष्य के जीवन में कर्म की क्षमता, भावनात्मक संवेदनशीलता तथा मानसिक स्पष्टता – ये तीन अवस्थाएँ

होती हैं। अनेक मनीषियों ने कहा भी है कि मनुष्य मस्तिष्क, हृदय तथा हाथों की शक्ति का संयोजन है।

मस्तिष्क का तात्पर्य यहाँ बुद्धि से है, बौद्धिक एवं विचारात्मक प्रक्रिया से है। हृदय का सम्बन्ध शरीर से नहीं, बल्कि संवेदनशीलता से है, तथा हाथ का तात्पर्य यहाँ पर शरीर के हाथों से नहीं, बल्कि क्रियाशीलता एवं कर्म कुशलता से है। ये तीन अवस्थाएँ होती हैं जिनको हम योग के द्वारा एक साथ विकसित करना चाहेंगे। और यही योग का पूरा सिद्धान्त है। मनुष्य इच्छा रखता है, उसके जीवन में महत्त्वाकांक्षाएँ रहती हैं, स्वार्थ रहता है। विरले ही मनुष्य हैं जिनके विचार एवं कर्म सकारात्मक होते हैं, जिन्होंने अपने जीवन में एक लक्ष्य को स्पष्ट रूप से अपनाया होता है, जो निष्काम होते हैं, और जिनके अनुकरण से समाज की जीवन-दिशा बदलती है। निन्यानवे प्रतिशत से अधिक लोग स्वार्थमय, इच्छामय, क्लेशमय तथा वासनामय जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी दृष्टि भले ही दार्शनिक हो, लेकिन कृत्य स्वयं तक ही सीमित रहते हैं।

यहीं पर हमारे जीवन में विरोधाभास दिखलायी पड़ता है, क्योंकि हम अपने सिद्धान्तों, विचारों एवं पारम्परिक दर्शन को अपने जीवन में भली-भाँति अवतरित नहीं होने देते। यह हमारा अज्ञान है, हमारे मन एवं चेतना की बहिर्मुखी अवस्था है, जिसने हमारी दृष्टि को वृक्ष के तने, पत्ते, फलों और फूलों तक ही सीमित रखा है, जिससे वह भूमि के भीतर जड़ को नहीं देख पाती। और जब जड़ें कमजोर रहती हैं, तब वृक्ष के धराशायी होने की सम्भावना अधिक रहती है।

महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन की प्रारम्भिक व्याख्या इस दृष्टिकोण से की है कि मनुष्य जीवन की जड़ों तक पहुँचे, मात्र बर्हिर्मुखी दृष्टि से अपने जीवन को न देखे। उन्होंने एक ही सूत्र में योग की परिभाषा दे दी है, कहा है – *अथ योगानुशासनम्।* उन्होंने मात्र एक शब्द का प्रयोग किया है योग को समझाने के लिए, और वह है अनुशासन। यह अनुशासन क्या है तथा इसका योग से क्या सम्बन्ध है, इसे पहले समझना होगा। तभी हम सम्पूर्ण योग को एक शब्द में समझ पाएँगे।

शासन का मतलब होता है राज्य करना। शासक राज्य करता है, और अपने शासन की सीमा के भीतर उत्पन्न सभी परिस्थितियों का ज्ञान रखता है। अगर उसके शासन में कोई घटना घटती है जिसका ज्ञान उसे नहीं रहता, तो

अराजकता फैलती है। जब ऐसी घटना घटती है जिसका ज्ञान उसे रहता है, तो वह उस परिस्थिति का नियन्त्रक होता है। अत: शासन शब्द को जब योग से जोड़ा जाता है तो उसका अर्थ होता है व्यक्तित्व पर शासन करना। व्यक्तित्व की सूक्ष्म अवस्थाओं का ज्ञान होना, उनमें जो शक्ति छुपी हुई है, जो क्षमता व्याप्त है, उसे उजागर करना। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तित्व में अनुशासन लाना ही योग है। सामान्य भाषा में कहा जाए तो हम कह सकते हैं व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का नाम ही योग है। यह मेरा मत नहीं, महर्षि पतंजलि का मत है, और इस मत से विज्ञान भी आज सहमत हो रहा है।

चित्त-वृत्तियाँ

महर्षि पतंजलि से पूछा गया कि अनुशासन को प्राप्त करने के पश्चात् क्या होता है? कौन-सी स्थिति आती है? तो वे एक ही सूत्र में पुन: उत्तर देते हैं – *योगश्चित्तवृत्ति निरोध: ।* योगाभ्यासों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। अब यहीं पर उस जीवन-वृक्ष की परिकल्पना दिखलायी देती है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है – *ऊर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।* यहाँ ऐसे वृक्ष का संकेत दिया गया है जो उल्टा है, जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखायें तथा फल नीचे लगते हैं। यह वृक्ष हम ही हैं। जड़ का तात्पर्य उस आत्मा, उस ईश्वरीय सत्ता से है, जो अदृश्य, अविनाशी, अचिन्त्य सत्य है। और उस परम अवस्था से जो परिणाम सूक्ष्म से स्थूल जगत् में दिखलायी पड़ता है, वह है हमारा बाह्य जीवन। बाह्य जीवन में जितनी घटनाएँ घटती हैं, वे वृत्तियाँ हैं। विचारों, भावनाओं, वासनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं का जो रूप है, उसे हम वृत्ति कहते हैं।

वृत्ति का मतलब होता है वृत्ताकार अनुभव। जिस प्रकार एक तालाब में कंकड़ फेंकने से गोल-गोल लहरें उत्पन्न होती हैं, और उनका विस्तार होता है, ठीक उसी प्रकार मन एवं चेतना की सूक्ष्म अवस्था में जब कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जब कोई विचार उत्पन्न होता है तो उसका परिणाम स्थूल जगत् में दिखलायी देने लगता है। वृत्ति को समझाने के लिए एक और सिद्धान्त है। सबसे पहले एक विचार की उत्पत्ति होती है, विचार से इच्छा, इच्छा से योजना, योजना से पुरुषार्थ, और अन्त में कर्म तथा कर्म से पुन: विचार उत्पन्न होते हैं। इसको कहते हैं वृत्ति। सूक्ष्म तत्त्व है विचार, तथा स्थूल परिणाम है शारीरिक कर्म। वृत्ति में दोनों का समावेश होता है। वृत्ति मात्र मानसिक या

सूक्ष्म नहीं होती। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व से रहता है, क्योंकि इसकी लहरें केवल एक दिशा में नहीं, बल्कि चारों दिशाओं में फैल रही हैं। इनका निरोध हम अनुशासन के द्वारा कर सकते हैं।

यहाँ पर निरोध शब्द का प्रयोग किया गया है। महर्षि पतंजलि यह नहीं कहते कि वृत्ति का विरोध करो। वे अवरोध के लिए भी नहीं कहते, बल्कि कहते हैं निरोध करो। जीवन में ऐसी स्थिति ले आओ कि ये गोलाकार तरंगें उत्पन्न ही न हों, और तुम्हारी मानसिक स्थिति पूर्णरूपेण सन्तुलित, संयत तथा शान्त रहे। जब इस प्रकार की परिस्थिति जीवन में उत्पन्न होगी, तब तुम्हारा जीवन सुखद तथा आनन्दमय हो जाएगा। तब तुम्हारे जीवन से दुःख समाप्त हो जाएँगे। यही विचारधारा है जिससे योग की उत्पत्ति होती है। यही विचारधारा है जो इस सिद्धान्त को समझा रही है कि हम पत्तों, फलों एवं फूलों से जड़ों तक किस प्रकार पहुँचें।

योग पर वैज्ञानिक शोध

योग के रहस्य को जानने के लिए विज्ञान अनेक प्रयोग एवं अनुसंधान कर रहा है। पाश्चात्य देशों ने भारत को चुनौती दी थी। कहा था कि तुम्हारी संस्कृति प्राचीन है, क्या इसमें कोई ऐसा तरीका है जिसके द्वारा आधुनिक मानव के जीवन को संयत तथा सन्तुलित बनाया जा सके। भारत के मनीषियों ने इस चुनौती को स्वीकार किया। वे योग को सामने लाए, और उन्होंने कहा कि एक तरीका है। तब पाश्चात्य विज्ञान ने पुनः एक चुनौती दी। कहा कि योग तो अंधविश्वासों से भरा है, कहता है कि मंत्र जपने से मन शान्त होगा, आसन करने से बीमारी दूर हो जाएगी, मनुष्य आरोग्य प्राप्त करेगा। यह कैसे सम्भव है? करके बतलाओ। तब योग ने इस चुनौती को भी स्वीकार किया, और योग के क्षेत्र में शोध की शुरुआत हुई। सबसे पहले शोध हुआ शरीर पर। शरीर को प्रभावित करने के लिए, शरीर में परिवर्तन लाने के लिए अष्टांग योग का सहारा लिया जाता है। अष्टांग योग के तीसरे और चौथे अंग हैं – आसन और प्राणायाम।

आसन और प्राणायाम के अभ्यासों से आज हर व्यक्ति परिचित है। स्कूलों में इसकी शिक्षा दी जा रही है, टेलिविजन द्वारा इसका प्रचार हो रहा है। अवसर मिलता है तो हम जैसे संन्यासी भी आपको योग के बारे में बतलाते हैं। योग आज तपस्वियों के जीवन से, हिमालय के जंगलों और गुफाओं से निकलकर गृहस्थाश्रम का एक अंग बन गया है। गृहस्थाश्रम के शब्दकोश में

जुड़ गया है। यह देखा गया है कि जैसे-जैसे आसन और प्राणायाम के अभ्यास से हमारा शरीर नियन्त्रण में आता है, वैसे-वैसे रोग दूर होते जाते हैं।

रोगों के निराकरण के पीछे योग का मात्र एक छोटा-सा सिद्धान्त है। मनुष्य तो भोगी है, चाहे जिस रूप में भोग करे। एक गृहस्थ अपने जीवन में विभिन्न प्रकार के भोगों को देखता है, और एक तपस्वी, साधक एवं त्यागी भी अपने जीवन में विभिन्न प्रकार के भोगों को देखता है। जब भोग असंयत एवं असन्तुलित हो जाता है, तब हम भोगी और रोगी बनते हैं। और जब उसी भोग को हम सन्तुलित कर पाते हैं, तब हम योगी कहलाते हैं। भोग से तो कोई मुक्त नहीं है, न हम न आप। हमें भी भोग की आवश्यकता होती है, मात्र इतना अन्तर है कि हमारे जीवन में हम प्रयास कर रहे हैं कि भोग संयत और सन्तुलित हो, और इसका नकारात्मक प्रभाव हमारे जीवन में रोग, अशान्ति, दु:ख और क्लेश के रूप में न पड़े। जब भोग की अति होने लगती है, तब रोग उत्पन्न होते हैं। दैनिक जीवन की अव्यवस्था एवं बाह्य प्रदूषित परिसर के कारण ही हम विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगों का सामना करते हैं। दमा का क्या कारण है? कैंसर का क्या कारण है? मधुमेह का क्या कारण है? आप लोग कहते हैं कि आज की सबसे बड़ी बीमारी एड्स है। विज्ञान भी कहता है कि सबसे खतरनाक बीमारी एड्स है। एड्स का मतलब क्या होता है? शरीर में प्रतिरक्षक क्षमता की कमी। अरे! जब इस प्रकार का तनावग्रस्त और प्रदूषित जीवन जीयेंगे, इस प्रकार की अस्त-व्यस्त दिनचर्या अपनायेंगे तो यह निश्चित है कि हमारी जो प्रतिरक्षक क्षमता है, जिससे हम विभिन्न रोगों से संघर्ष कर सकते हैं, वह कम होगी। दमा भी तो एड्स का ही एक रूप है। हम ऐसा मानते हैं, क्योंकि अगर हमारा प्रतिरक्षक संस्थान मजबूत रहे, तो दमा होगा नहीं, इस प्रकार की अव्यवस्था हमारे भीतर जन्म ही नहीं ले सकती।

आप तो एड्स एक बीमारी को कहते हैं। योग कहता है कि रोगग्रस्त जीवन ही एड्स है। प्रतिरक्षक क्षमता की कमी ही एड्स है। हम जिस आरोग्य की कल्पना करते हैं, जिस आरोग्य की कामना करते हैं, उसमें क्या चाहते हैं, हमारी शारीरिक क्षमता इस प्रकार बढ़े कि हम रोगी ही न हों। प्रतिरक्षक क्षमता में इस प्रकार वृद्धि हो कि बाहर का वातावरण तथा जीवन-प्रणाली न हमारे शरीर को प्रभावित करें, न मन को, न भावना को, और हम निरन्तर अपने जीवन में उन्नति करते जाएँ। इसी विचार को योग में वैज्ञानिक तरीके से स्पष्ट किया गया है।

भारत में मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, बिहार तथा महाराष्ट्र में दमा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, गठिया, पाचन-संस्थान एवं हृदय-संस्थान के विकारों को दूर करने के लिए चिकित्सक, बुद्धिजीवी एवं वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हैं। देखा गया है कि कुछ ही दिनों में शरीर के भीतर एक सकारात्मक परिवर्तन होता है। प्राण शक्ति की वृद्धि होती है। शरीर आरोग्य प्राप्त करता है। इसी कारण हम आज योग को एक चिकित्सा विज्ञान के रूप में भी मानने लगे हैं। कोई ऐसी बीमारी नहीं है जिसका निदान योग द्वारा सम्भव न हो, बशर्ते आप सही एवं नियमित रूप से योगाभ्यासों को कर सकें। इस चुनौती में योग शत-प्रतिशत सफल हुआ। तब विज्ञान ने योग के स्थूल पक्ष को छोड़कर मनोवैज्ञानिक पक्ष को आजमाना चाहा। विज्ञान कहता है कि हम मान गए कि योग से शरीर को ठीक रखा जा सकता है, क्योंकि इसमें आसन हैं, प्राणायाम हैं, मुद्राएँ हैं, बंध हैं, षट्कर्म हैं, शारीरिक विधियाँ हैं, प्रक्रियाएँ हैं, उपाय हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिक पक्ष को; मन, भावना और बुद्धि को योग किस प्रकार संतुलित करेगा, यह देखें, क्योंकि अशान्ति भी तो एक बहुत बड़ी समस्या है। इसी के कारण मानसिक स्पष्टता, एकाग्रता एवं संतुलित विचारों में कमी हो रही है। नकारात्मक तत्त्व जीवन में उभरने लगे हैं।

इस उद्देश्य से पुनः योग पर परीक्षण किया गया। सर्वप्रथम हम आपको योग के कुछ उदाहरण दें कि मानव किस प्रकार तनावमुक्त हो, क्योंकि विज्ञान की यह मान्यता है कि सभी प्रकार की मानसिक अशान्ति, भावनात्मक अशान्ति और विक्षिप्तता का कारण है तनाव। इस तनाव को किस प्रकार दूर किया जाए, और साथ-ही-साथ मन की शक्ति को किस प्रकार जाग्रत किया जाए? यहाँ पर अष्टांग योग के पाँचवें और छठे अंग को योग सामने लाता है, जिन्हें हम क्रमशः प्रत्याहार और धारणा कहते हैं। योग कहता है कि ये दो तरीके हैं जिनके द्वारा तुम अपने व्यक्तित्व की सूक्ष्म अवस्थाओं को जान सकते हो, और उन्हें संयत बना सकते हो। योग के इन दो अंगों के अन्तर्गत बहुत-सी प्रक्रियाओं का उल्लेख होता है। उदाहरण के लिए योगनिद्रा शारीरिक तथा मानसिक विश्राम की, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को विश्राम देने की एक क्रिया है। अजपाजप, अन्तर्मौन, चिदाकाश धारणा इत्यादि अभ्यास हैं, जिनके द्वारा हम मन को एक बिन्दु में केन्द्रित करते हैं। अपनी मानसिक प्रतिभा का विकास कर सकते हैं। एकाग्रता, ग्रहणशीलता एवं स्मरण-शक्ति को बढ़ा सकते हैं। आत्मशक्ति, संकल्पशक्ति तथा क्रियाशक्ति को बढ़ा सकते हैं।

एक छोटा-सा उदाहरण हम आपको दें। योग में चर्चा होती है कि मंत्र का जप करने से मस्तिष्क तथा मन शान्त होते हैं। सामान्य लोग इसका मतलब लगाते हैं कि मंत्र का जप करने से ईश्वर का स्मरण होता है, और मन संसार से हटता है, इसलिए स्वाभाविक है कि मानसिक चंचलता कम होगी। लेकिन इसके पीछे भी एक प्रयोग है, जिसके बारे में आपको बतलाता हूँ। स्पेन देश के बार्सीलोना नगर के एक अस्पताल में एक संन्यासी पर परीक्षण किया गया। अस्पताल में क्यों? इसलिए नहीं कि उस संन्यासी के साथ कोई दुर्घटना घटी थी। इसलिए नहीं कि उस संन्यासी की शल्य-चिकित्सा होने वाली थी, बल्कि एक तरीका जानने के लिए परीक्षण किया गया, जिसके द्वारा हम अस्पताल में आए हुए मरीजों के मन से भय एवं घबराहट को दूर कर सकें तथा उन्हें प्रशान्तक की आवश्यकता न हो।

जब कोई मरीज अस्पताल में शल्य-चिकित्सा के लिए जाता है तो उसके मन में हमेशा एक भय बना रहता है। अगर शल्य-चिकित्सा छोटी होती है, तो वह सफल होगी या नहीं। और अगर बड़ी शल्य-चिकित्सा है तो 'ऑपरेशन थियेटर' से वापस लौटूँगा या नहीं, यह भय बना रहता है। इसके कारण उसके अन्दर घबराहट, चिन्ता तथा विषाद की अवस्था आ जाती है। इसको दूर करने के लिए आप प्रशान्तक दे सकते हैं, गोली दे सकते हैं, इन्जेक्शन दे सकते हैं, आदमी को सुला सकते हैं, लेकिन सुलाने के बाद भी उसके मन से भय एवं विषाद को दूर नहीं कर सकते। एक अचेतन तनाव तो उसके भीतर बराबर बना ही रहता है। और इस मानसिक अवस्था का प्रभाव शरीर के तन्त्र-तन्त्रिकाओं, हृदय संस्थान, रक्त-संचार, श्वसन-प्रक्रिया, स्नायविक-संस्थान तथा अन्य सभी संस्थानों पर पड़ता है।

संन्यासी को कहा गया कि किसी मंत्र का जप करो। वह चुपचाप बैठ कर 'ॐ' मंत्र का उच्चारण करने लगा। मंत्र के उच्चारण के दौरान यंत्रों द्वारा उसके मस्तिष्क के परिवर्तनों को देखा जा रहा था। जो विज्ञान के छात्र हैं या जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि हमारे मस्तिष्क के भीतर चार प्रकार की विद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं जिनका सम्बन्ध जाग्रत, शैथिल्य, तन्मय तथा एकाग्र अवस्था से रहता है। जब हम जाग्रत रहते हैं तब हमारी इन्द्रियों एवं विचारों में चंचलता रहती है। उस समय मस्तिष्क के भीतर बीटा तरंग का प्राधान्य होता है। जैसे-जैसे चंचलता कम होती है, वैसे-वैसे बीटा तरंग की आवृत्ति कम होती जाती है और अल्फा तरंग जन्म लेती है। इस

चंचलता के शान्त होने की प्रक्रिया में जब एकाग्रता की स्थिति आती है, तब डेल्टा तथा थीटा तरंगें मस्तिष्क में दिखलायी देने लगती हैं।

आज भी उस अस्पताल में हर मरीज के लिए यह अनिवार्य है कि शल्य-चिकित्सा-कक्ष में जाने के पहले वह दस मिनटों तक श्वास पर ध्यान करते हुए ॐ मंत्र का उच्चारण करे। उन्हें तो मालूम भी नहीं कि मंत्र क्या है। अरे! जब हमें ही मालूम नहीं कि मंत्र क्या है, तो उनकी बात तो अलग है। आपको मालूम है, मंत्र क्या है? आप तो कहेंगे कि मंत्र भगवान् का नाम है। लेकिन योग कहता है – *मननात् त्रायते इति मंत्रः* – वह शक्ति, जिससे मन स्वतंत्र हो जाए, मंत्र कहलाती है। मन के स्वतंत्र होने की प्रक्रिया बौद्धिक या धार्मिक नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह उदाहरण मैंने आपको इसलिए बतलाया कि इससे प्रमाणित होता है कि मानसिक तनाव को दूर करने के लिए हम मंत्र का सहारा भी ले सकते हैं, क्योंकि उससे मस्तिष्क में जो परिवर्तन होगा उसका प्रभाव हम अपने शरीर के सभी संस्थानों में देख पायेंगे। उससे शिथिलता एवं तनाव-मुक्त अवस्था का अनुभव होगा।

जेलों में योग के प्रयोग

ऐसे अभ्यासों का प्रयोग पुनः स्वास्थ्य-प्रदायक-केन्द्रों, व्यसन-मुक्तिकरण केन्द्रों तथा जेलों में कैदियों की मनोवृत्ति को बदलने के लिए भी किया गया है। एक बार हम अमेरिका की एक जेल में योग सिखलाने के लिए गए। उस समय वहाँ का जो सबसे खूंखार कैदी था, उससे हमारी मुलाकात हुई। हमने उसे यौगिक प्रक्रियाएँ सिखानी शुरू कीं। एक महीने तक उसे प्रत्याहार एवं धारणा के अभ्यास सिखाए। और वह आजीवन कारावास की सजा वाला कैदी अपने अच्छे व्यवहार के कारण छः महीने में जेल से मुक्त हो गया। वहाँ की सरकार ने उसे यह आदेश दिया कि तुम यहाँ की सभी जेलों का भ्रमण करो। उसे जेल का मुख्य योग शिक्षक बना दिया। वह आज भी अमेरिका की विभिन्न जेलों में जाकर अपने खूंखार कृत्यों की चर्चा करके बतलाता है कि अगर मेरे जीवन में परिवर्तन हुआ, संयम आया, और अपराध करने की इच्छा समाप्त हुई, तो उसका श्रेय जाता है योग को और एक संन्यासी को। जब इस प्रकार के परिवर्तन दिखलायी पड़ते हैं, तब इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि योग के पास कुछ है।

अभी मात्र पश्चिमी यूरोप में योग के सत्तर हजार शिक्षक हैं। वे वहाँ के विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में योग की पारम्परिक शिक्षा

देते हैं। यह तो मैंने मात्र पश्चिमी यूरोप के आँकड़ों का एक छोटा-सा उदाहरण बतलाया है, अगर पूरे विश्व के आँकड़े जानेंगे तो आप आश्चर्यचकित हो जाएँगे। शायद पूरे विश्व में मध्य-प्रदेश की जनसंख्या से भी अधिक योग शिक्षक हैं। इसमें भारत को हमने सम्मिलित नहीं किया है। भारत की संख्या अलग, और शेष जगत् की संख्या अलग।

चेतना पर अनुसंधान

अष्टांग योग के सातवें और आठवें अंग को जानने और समझने के लिए चेतना पर भी अनुसंधान हो रहे हैं। ध्यान क्या है? समाधि क्या है? जीवन में इसकी उपयोगिता क्या है? चेतना में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं, इसे देखा जाए। क्या यह सम्भव है कि चेतना का विस्तार हो? क्योंकि विज्ञान की मान्यता है कि आज मनुष्य अपने मस्तिष्क की मात्र दस प्रतिशत क्षमता का उपयोग कर रहा है। नब्बे प्रतिशत क्षमता सुषुप्त अवस्था में है, सक्रिय नहीं है। मनोविज्ञान की भी यही मान्यता है कि हम अपने जीवन में मन के केवल कुछ प्रतिशत का ही उपयोग करते हैं। शेष के बारे में, जिसे हम अवचेतन कहते हैं, हमें जानकारी नहीं है। हमें मालूम ही नहीं कि इसका कार्य क्या है। लेकिन योग कहता है कि ध्यान की अवस्था में इन तीन अवस्थाओं को देखा, समझा और अनुभव किया जा सकता है। और इन तीन अवस्थाओं के परे एक चौथी अवस्था की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है जिसे 'तुरीया' या 'सुपरकान्शस माइन्ड' कहते हैं।

यम और नियम, जो अष्टांग योग के प्रथम और द्वितीय अंग हैं, हमारे जीवन को सकारात्मक बनाने में सहयोग देते हैं। वे हमारे जीवन की शिक्षा और आधार हैं, जिनसे व्यक्तित्व को सजाया जाता है। पाँच यमों और पाँच नियमों की चर्चा होती है। यम हैं–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। सत्य मतलब सच बोलने की शिक्षा। माता-पिता तो हमें कहते हैं कि बेटा, तुम झूठ मत बोला करो। वे हमें कहते हैं कि हिंसा मत करो, लेकिन यह नहीं बतलाते कि किस प्रकार अहिंसक बना जा सकता है। यह शिक्षा योग द्वारा मिलती है।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य–ये व्यक्तित्व के गुण हैं, जिनके द्वारा जीवन के अन्य छुपे हुए गुण उभरते हैं। नियम हैं–शौच, अर्थात् शारीरिक और मानसिक पवित्रता, शरीर का विकार रहित होना,

नकारात्मक विचारों को दूर करना, इत्यादि। दूसरा संतोष, मतलब जीवन में कामना और स्वार्थ भावना से ऊपर उठना; जो है, उसी में निष्काम रूप से संतुष्ट रहना। तीसरा तप, स्वयं को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया। चौथा स्वाध्याय, अर्थात् आत्मविश्लेषण एवं आत्मचिन्तन। और पाँचवा, ईश्वर प्रणिधान, अर्थात् यह मानना कि मुझसे शक्तिशाली कोई सत्ता है जो मेरे जीवन को निर्देश देती है, जिसका पालन मेरा सूक्ष्म व्यक्तित्व करता है। ये नियम हैं जिनका पालन अपने व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन को लाने के लिए किया जाता है।

इसी उद्देश्य के साथ योग के अभ्यासों को समझ कर अपने जीवन-वृक्ष की जड़ तक पहुँचें, और उसे मजबूत बनाएँ, ताकि यह जीवन-वृक्ष हमेशा मजबूत रहे, सुदृढ़ रहे, और हम जीवन में आने वाले सभी प्रकार के आँधी-तूफान का सामना सीना तान कर करते रहें।



योग – आज की आवश्यकता

आज की आवश्यकता, जिसे मात्र हम अनुभव नहीं कर रहे हैं, बल्कि पूरा समाज अनुभव कर रहा है, वह है – योग। हमारे जीवन को सुखद बनाने के लिए, आनन्दपूर्ण बनाने के लिए अगर किसी चीज की आवश्यकता है, तो उसकी पूर्ति योग द्वारा ही हो सकती है।

योग का अर्थ है जोड़ना। इस शब्द का हमारे व्यक्तित्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तित्व की जो अनुभूतियाँ होती हैं, वे टूटी हुई अनुभूतियाँ हैं। हमारे शरीर, मन, भावना तथा आत्मा की दिशाएँ अलग-अलग हैं। और इन्हीं भिन्नताओं को एक साथ लेकर चलना सामान्य मनुष्य का जीवन है; क्योंकि शरीर और मन बहिर्मुखी हैं। स्थूल या दृश्य जगत् से शरीर तथा मन का अटूट सम्बन्ध रहता है। और हमारा चित्त तथा आत्मा अन्तर्जगत् की ओर प्रेरित होते रहते हैं। इसलिए हमेशा कहा जाता है कि आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से ही है। लेकिन जब तक हम लोग दृश्य जगत् के प्रभाव में रहते हैं, तब तक मन का सम्बन्ध आत्मा से नहीं हो पाता। और जिस दिन यह सम्बन्ध स्थापित हो जाए, उस दिन यह मान लेना चाहिए कि हमने योग की शिक्षा को पूर्णतया ग्रहण किया है।

शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शान्ति और आत्मिक उन्नति के लिए योग की विधियाँ अवश्य कामयाब सिद्ध होती हैं। फिर भी साधक को जीवन में प्रयत्न करना चाहिए कि योग के अभ्यासों का लक्ष्य हो कि हमारा व्यक्तित्व जाग्रत हो। व्यक्तित्व की जागृति, अन्तश्चेतना की जागृति ही योग का, जीवन का लक्ष्य होना चाहिए; क्योंकि इतना तो निश्चित है कि हम संसार में समय खोने के लिए नहीं आए हैं। हम जब संसार में आते हैं तब अपने कर्त्तव्यों को भूल जाते हैं। और जब हम कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को भूल

जाते हैं, तब किस प्रकार यह सोचें, यह आशा रखें कि हमारे जीवन का विकास हो?

अब योग को हमें एक नयी दिशा की ओर ले जाना है। 'शरीर के लिए योग' साठ के दशक का योग था। 'स्वास्थ्य के लिए योग' सत्तर के दशक का योग था। 'मानसिक शान्ति तथा तनाव मुक्ति के लिए योग' अस्सी के दशक का योग था। और अभी योग का जो लक्ष्य सामने आ रहा है, जिसके प्रति आज समाज जाग्रत हो रहा है, वह है – 'व्यक्तित्व जागरण का योग'।

इस प्रकार योग की दुनिया में अलग-अलग तरंगें उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने भारत को ही नहीं बल्कि पूरे संसार को अपने प्रवाह में समाहित किया है। इतना तो हर व्यक्ति मानता है, जानता है कि योग एक प्राचीन संस्कृति है, विज्ञान है, विद्या है। लेकिन इतना सब जानते हुए भी, इतना सब मानते हुए भी हम योग के एक अंग को ही पकड़े हुए हैं। हमारे विचार से यह एक बड़ी भूल है।

जैसे-जैसे संसार में, प्राणियों में तनाव की वृद्धि हो रही है; जैसे-जैसे इस तनाव के कारण मानसिक क्लेशों में वृद्धि हो रही है; जैसे-जैसे मनुष्य मानसिक क्लेशों के कारण आत्म-सन्तुलन खोने लगा है; और जैसे-जैसे वह आत्म-सन्तुलन खोकर एक रोगमय जीवन जीने को बाध्य हो रहा है; वैसे-वैसे यह आवश्यकता और भी बढ़ती जा रही है कि हम योग को पूर्ण रूप में समझें।

अगर किसी बगीचे को हरा-भरा देखना हो तो यह आवश्यक है कि पेड़-पौधों की जड़ों में खाद-पानी जाए। जड़ों को पानी देना होगा; रोगग्रस्त होने से बचाना होगा; कीटाणुओं के आक्रमण से बचाना होगा। कपड़े से फूल-पत्तों को साफ करना पौधे को आरोग्य नहीं दिला सकता। लेकिन हम तो अपने जीवन के फूल-पत्तों को ही साफ करने में लगे हैं। योग के माध्यम से जड़ तक तो पहुँचे ही नहीं हैं।

इस जीवन-वृक्ष के जो फूल-पत्ते दिखलायी देते हैं, वे हमारे कर्मों, विचारों और व्यवहार के परिणाम हैं। उन्हीं को देखकर हम सोचते हैं कि अगर हम इस पत्ते को सजा दें या इस फूल को साफ कर दें तो पौधा सुन्दर दिखेगा। लेकिन सुन्दर दिखने के बावजूद जब हवा का एक तेज झोंका आता है तब वह पौधा गिर पड़ता है, क्योंकि आन्तरिक रूप से वह कमजोर रहता है।

एक योग साधक होने के नाते हर व्यक्ति का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जड़ें मजबूत हो जाएँ, पौधा मजबूत हो जाए। योग साधक के जीवन की तुलना

एक कमल के फूल से कर सकते हैं। जैसे कमल का फूल कीचड़ में उत्पन्न होता है, वैसे ही एक मानव का जन्म भी संसार के विकारों में होता है; माया के परिवेश में होता है। जिस प्रकार से कमल का फूल जल के ऊपर खिलता है, और जल से अप्रभावित रहता है, ठीक उसी प्रकार से मानव चेतना और व्यक्तित्व को भी संसार के प्रभावों से ऊपर उठना और संसार के प्रभावों से अप्रभावित रहना है।

यह मात्र एक सैद्धान्तिक विषय नहीं है, व्यावहारिक विषय है, जिसकी शिक्षा भारत के प्राचीन मनीषियों ने हमें दी है। साधना का जो मार्ग उन्होंने बतलाया है, जिसके द्वारा हम अपने जीवन को एक कमल पुष्प की भाँति जलधारा से अप्रभावित रख सकते हैं, वह है – योग। योग का सम्बन्ध शरीर, मन और आत्मा को जोड़ने से है। अगर योग विद्या का प्रचार करना है, तो इन बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए प्रचार करना चाहिए। मात्र एक पक्ष को अपनाकर चलना योग के प्रति अपराध है। यह मेरा व्यक्तिगत मत है। पूज्य गुरुदेव परमहंस सत्यानन्द जी ने हमलोगों को यही शिक्षा दी थी।

आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व योग विद्या का प्रचार नहीं था। लोग सोचते थे कि योग तो केवल साधुओं की साधना की वस्तु है, जो संसारियों के लिए, गृहस्थों के लिए सुलभ नहीं है। ऐसे माहौल में एक छोटे-से कमरे से पूज्य गुरुदेव ने योग विद्या का प्रचार प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यह योग विद्या विश्वव्यापी हो गई और हम अपने जीवन में किसी-न-किसी कारणवश योग को अपनाने के लिए बाध्य हो गए। चाहे उसका कारण रोग निवारण रहा हो या मानसिक शान्ति या दीर्घायु को प्राप्त करने की इच्छा ही क्यों न रही हो, लेकिन हमें और चलना बाकी है। इस मार्ग में हम ऐसे लोगों को केवल शुभकामनाएँ दे सकते हैं, जो सेवा-भावना से प्रेरित हो, दूसरों की सहायता के लिए तत्पर हैं। लेकिन हम यह भी इच्छा रखते हैं कि योग के बारे में आप अपनी जानकारी को और बढ़ाएँ। योग-ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिए। मुंगेर में अभी हम लोग पारम्परिक शिक्षा के अतिरिक्त योग की वैज्ञानिक शिक्षा भी प्रदान करते हैं। यौगिक शरीर-विज्ञान के साथ-साथ यौगिक-मनोविज्ञान तथा यौगिक अध्यात्म-विज्ञान की शिक्षा भी देते हैं।

योग शिक्षक के जीवन में इन तीनों का समावेश होना आवश्यक है। एक योग साधक के लिए इन तीनों का अपने जीवन में अनुभव करना आवश्यक है। यह याद रखिए कि आगामी दशक में योग की मान्यताओं में अनेक

परिवर्तन होंगे; और ये परिवर्तन संन्यासी ही करने जा रहे हैं; क्योंकि जिस दिशा से अभी योग की धारा समाज में प्रवाहित हो रही है, उस दिशा से हम सन्तुष्ट नहीं हैं; प्रसन्न नहीं हैं। शिक्षण का कार्य अधूरा ही है। शिक्षण का कार्य कभी पूर्ण नहीं होता। उसे तो हमेशा परिस्थिति के अनुसार एक नया रूप देना पड़ता है। और नया रूप वही दे सकता है, जो इस विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए दिन-रात, जी-जान से, एक कर्त्तव्य मान कर, सेवा-भावना से प्रेरित होकर भिड़ा हुआ है।



प्रश्नोत्तर

हम योग, ध्यान और आसन कुछ वर्षों से कर रहे हैं। इस कार्यक्रम को और आगे बढ़ाना चाहते हैं। इसे गृहस्थाश्रम में रहकर आगे बढ़ाया जा सकता है या संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी बनकर ही बढ़ाया जा सकता है? इस बारे में आप अपने विचार प्रकट करें।

योग के कार्यक्रम को चाहे जिस किसी रूप में आगे बढ़ाया जा सकता है। यह अनिवार्य नहीं कि संन्यासी या ब्रह्मचारी बनकर, या आश्रम-जीवन यापन करके ही हम इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाएँ। जिस प्रकार से एक विश्वविद्यालय होता है, उसमें प्रोफेसर होते हैं जो लोगों को अलग-अलग विषयों की शिक्षा देते हैं, ठीक उसी प्रकार की भूमिका आश्रम की होती है। संन्यासी की वही भूमिका होती है जो विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर की।

आप शिक्षा ग्रहण करके उसे किसी भी सीमा तक विकसित कर सकते हैं। आइन्सटाइन के प्रोफेसर क्या आणविक सिद्धान्त के प्रणेता थे? नहीं। लेकिन आइन्सटाइन हुए। क्यों और कैसे? उन्होंने सही शिक्षा प्राप्त की और उस शिक्षा को विकसित किया। ठीक उसी प्रकार हम सब साधक हैं, जो उस स्थान में जाकर शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जहाँ पर इस शिक्षा का वास्तविक रूप दिखलायी दे। और शिक्षा को ग्रहण करने के पश्चात् हम अपने सामान्य जीवन में इसको विकसित कर सकते हैं।

इसलिए आप यह मत सोचिए कि योग में आगे बढ़ने के लिए आपको संन्यास लेना पड़ेगा, या ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना पड़ेगा। योग को जीवन का एक अंग बनाना मानव समाज का कर्त्तव्य है।

प्रभु की याद में

जब भगवान् से प्रार्थना करनी हो, तब न संस्कृत बोलने की आवश्यकता है, न शुद्ध हिन्दी की। खिचड़ी भाषा में भी आप उनसे बात कर सकते हैं। केवल एक शर्त है, हृदय शुद्ध और पवित्र रहना चाहिए। जो भावना, जो पुकार हृदय से निकलती है, जिन्हें हृदय के उद्गार के रूप में हम जानते हैं, उसमें छल, कपट या स्वार्थ नहीं रहता।

आदिगुरु शंकराचार्य की प्रार्थना है, 'हे भगवान्! मेरे पापों को क्षमा करना। मेरा पहला पाप था कि मैंने यह जानते हुए भी कि तुम सर्वज्ञ हो, तुम्हें अपनी आवश्यकताएँ बतलायीं कि मुझे यह चाहिए; वह चाहिए; यह दो; वह दो। मेरा दूसरा पाप था कि यह जानते हुए कि तुम सर्वव्यापी हो, मैंने तुम्हें नगर-नगर, कभी काशी में, कभी हिमालय में, और कभी मंदिरों में ढूँढा।' मैं आपको यह सब इसलिए बतला रहा हूँ ताकि हृदय के उद्गार किस प्रकार के होते हैं, यह स्पष्ट हो जाए। यही भावना जब शुद्ध और पवित्र बनती है, तब हमारे भीतर आन्तरिक अनुभूति होती है। इसी आत्मिक अनुभूति को कुछ लोग ईश्वर दर्शन कहते हैं; कुछ लोग आत्म-साक्षात्कार कहते हैं; कुछ लोग निर्वाण कहते हैं; कुछ लोग समाधि कहते हैं। मनुष्य को इस ओर ले जाने की प्रक्रिया को भारत के मनीषियों ने 'योग' के नाम से बताया।

योग की परिभाषा

आधुनिक मानव के मन में यही धारणा है कि योग या तो धर्म है, या अध्यात्म-विज्ञान है, या शरीर-विज्ञान है। लेकिन आप अच्छी तरह से समझ लीजिए कि योग न तो शरीर-विज्ञान है, न धर्म है, और न ही अध्यात्म-विज्ञान, बल्कि एक साधन है, जिसके द्वारा हम जीवन की उच्च-से-उच्च अवस्था को प्राप्त

कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान अपने अनुसंधानों द्वारा योग के इस प्राचीन विज्ञान की पुष्टि कर रहा है।

योग को हम धर्म तो नहीं मान सकते, लेकिन यह कह सकते हैं कि योग के द्वारा धर्म का पालन किया जा सकता है, क्योंकि जिस विचारधारा को योग ने अपनाया है वह है मानवीय गुणों को अपने जीवन में, अपने व्यक्तित्व में स्थान देना। *धारयते इति धर्मः।* धर्म की परिभाषा है – जिस चीज को हम अपने जीवन में धारण कर जीवन को परिपूर्ण बना सकते हैं, सुखद बना सकते हैं, आनन्दमय बना सकते हैं। जीवन को सुखी, सम्पन्न और आनन्दमय बनाने के लिए किस चीज की आवश्यकता होती है? गुणों की आवश्यकता होती है, और ये गुण ही हमारे सफल, स्वस्थ व्यक्तित्व की पहचान हैं। एक जाग्रत, सजग और उच्च अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व की पहचान हैं। योग एक माध्यम है ऐसे गुणों को अपने भीतर जागृत करने का।

योग को हम अध्यात्म-विज्ञान भी नहीं मानते, क्योंकि अध्यात्म-विज्ञान एक पद्धति है, प्रक्रिया है जिसके द्वारा आत्म-चिन्तन की स्थिति आती है। आत्म-चिन्तन का मतलब यह जानना, यह समझना कि मेरा अस्तित्व क्या है। मेरे भीतर कौन-सी शक्तियाँ हैं जिनके प्रयोग से मैं जीवन से विकारों को, नकारात्मक तत्त्वों को दूर करके जीवन के कर्मों और विचारों को सृजनात्मक बना सकूँ, जिससे सभी का कल्याण हो। यही अध्यात्म-विज्ञान की धारणा थी, जो हमारे दर्शनों में परिलक्षित होती रही है।

'आत्मदीपो भव' की भावना के साथ यहाँ पर योग एक साधन के रूप में सामने आता है, जिसको अपनाने के पश्चात्, जीवन में हमारी क्या भूमिका है, किस प्रकार से हम अपने जीवन की भूमिका को अच्छी प्रकार अदा कर सकते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है।

योग को कई लोग शरीर-विज्ञान मानते हैं, लेकिन हम नहीं मानते। अगर यह शरीर-विज्ञान ही होता तो मन तक इसकी पहुँच नहीं होती। अगर मनोविज्ञान मात्र रहता तो चेतना तक, आत्मा तक इसकी पहुँच नहीं होती। योग तो जीवन के सर्वांगीण विकास का एक तरीका है, और इसी संदर्भ में हमें इसको समझना होगा।

इसको समझाने के लिए मैं कुछ वैज्ञानिक प्रयोगों का सहारा लेता हूँ। सबसे पहले योग के चिकित्सात्मक पक्ष को देखें। आप सब टेलिविजन में देखते और पुस्तकों में पढ़ते हैं कि योग में आसनों का उल्लेख होता है। ये आसन शरीर की

एक स्थिति के द्योतक हैं। अगर हम किसी आसन को करें, तो उसके परिणाम का अनुभव हम अपने शरीर के भीतर करेंगे। शरीर के आंतरिक संस्थानों, जैसे, स्नायविक संस्थान, हृदय संस्थान और सभी तंत्र-तंत्रिकाओं में उस आसन के प्रभाव को हम देख पायेंगे। लेकिन ये प्रभाव किस प्रकार के होते हैं?

समाज में दो प्रकार के मनुष्य दिखलायी देते हैं। एक हैं रोगी, जो किसी-न-किसी व्याधि से पीड़ित हैं; और दूसरे प्रकार के लोग हैं स्वस्थ। जो लोग व्याधि से पीड़ित हैं, जिनके भीतर रोग है, जो असमर्थ हैं, जिनकी आंतरिक तंत्र-तंत्रिकाएँ असक्षम हैं, उन लोगों के लिए योग के विभिन्न अंग एक चिकित्सात्मक पद्धति के रूप में काम आते हैं, जिनमें से एक है आसन। लेकिन जो लोग स्वस्थ हैं, उनके जीवन के विकास के लिए योग के दूसरे अभ्यास काम आते हैं, जिन्हें हम प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के अभ्यास कहते हैं।

सबसे पहले योग का जो चिकित्सात्मक पक्ष है, और विशेषकर जो आसन और प्राणायाम हैं, उनके ऊपर देश-विदेश में अनेक शोध हुए, यह जानने के लिए कि किस प्रकार से आसन और प्राणायाम शरीर को आरोग्य प्रदान करते हैं। और अनुसंधानों में पाया गया कि दमा, मधुमेह, गठिया, पेट सम्बन्धी रोग, हृदय-संस्थान सम्बन्धी रोग, यहाँ तक कि कैंसर और एड्स जैसे रोग जिन्हें हम असाध्य माना करते हैं, उनके निवारण में भी इन आसनों का बहुत सहयोग रहता है, क्योंकि ये आसन शारीरिक अक्षमता और कमजोरी को दूर करके तंत्र-तंत्रिकाओं को मजबूत एवं शक्ति से पूर्ण बनाते हैं। और इस क्रम में आसनों का प्रयोजन किसी बीमारी से मुक्ति दिलाना नहीं रहता। आसनों और प्राणायामों का प्रयोजन रहता है शरीर की खोयी हुई क्षमता को वापस लाना। और इस क्रम में जो भी गड़बड़ी हमारे शरीर के भीतर है, चाहे साइटिका हो, चाहे जोड़ों का कड़ापन हो, चाहे ऐसी कोई बीमारी हो जिसमें शरीर का कोई अंग काम न करता हो, जैसे, मधुमेह – शरीर के भीतर इन्सुलिन का उत्पादन कम हो जाना, ग्लूकोज का विघटन न होना जिससे वह खून तथा पेशाब में आने लगे, ऐसी जो आन्तरिक अव्यवस्था पैदा हो जाती है शरीर में, इसको हम योग से दूर करते हैं।

योग के तीन आयाम

योग के चिकित्सात्मक पक्ष के तीन आयाम होते हैं। एक पक्ष को कहते हैं उपचारात्मक, दूसरे पक्ष को कहते हैं निरोधक, और तीसरे पक्ष को कहते हैं

स्वास्थ्य-वर्धक। रोग से पीड़ित व्यक्ति योग का अभ्यास करता है और रोग से मुक्ति पाता है, यह योग का उपचारात्मक पक्ष हुआ। कभी हमें यह सन्देह होता है कि मुझे कुछ होने वाला है, खतरे की घंटी बजने लगती है, और उस समय हम खतरे को टालने के लिए योगाभ्यास प्रारम्भ करते हैं। यह योग का निरोधक पक्ष है। और स्वास्थ्य-वर्धक पक्ष यह कि कोई बीमारी न होते हुए भी हम योग करते हैं जिससे शारीरिक क्षमता में वृद्धि होती है, और हममें 'लक्कड़ हजम पत्थर हजम' वाली क्षमता आ जाती है।

शरीर से सम्बन्धित योग के ये तीन मुख्य अंग हैं। लेकिन इसमें एक दिक्कत हो जाती है कि जब हमारे जीवन में खतरे की घंटी बजने लगती है तो हम उसे सुनते नहीं हैं। खतरे की घंटी कैसे बजती है? सरदर्द एक घंटी है। अगर कभी सरदर्द हो, माइग्रेन हो, गर्दन और कंधों में खिंचाव का अनुभव हो तो संभल जाना, कहीं कुछ गड़बड़ी शुरू होने वाली है।

सामान्यतया जब खतरे की घंटी बजती है, लाल बत्ती दिखलायी पड़ती है तो हम उसे अनदेखा कर देते हैं। लेकिन जब हम उस बत्ती को अनदेखा कर देते हैं तो बाद में तकलीफ हमें ही होती है, क्योंकि कुछ मालूम नहीं पड़ता, संकेत ही नहीं आता। क्या हो रहा है, कहाँ पर तनाव उत्पन्न हो रहा है, हम कैसे जानें? तनाव मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न हो रहा है, भावना में उत्पन्न हो रहा है, शरीर के भीतर मांसपेशियों में उत्पन्न हो रहा है, जोड़ों में उत्पन्न हो रहा है, कहाँ है, मालूम नहीं पड़ता। और दूसरी बात, हम योग के प्रति एक विचित्र धारणा रखते हैं कि यह तो साधुओं की चीज है, हमारे लिए नहीं है।

जब हम बीमार पड़ते हैं तो सबसे पहले जाते हैं होमियोपैथी चिकित्सा के लिए। होमियोपैथी चिकित्सा जब काम नहीं करती तो उससे थोड़ी अधिक शक्ति वाली एलोपैथी चिकित्सा कराने जाते हैं। एलोपैथी में जब रोग की पहचान हो जाती है तब फिर अलग-अलग पोटेन्सी की दवाइयाँ खानी पड़ती हैं। शुरुआत होती है 20 मिलीग्राम से और अन्त होता है 500 मिलीग्राम की दो-तीन गोलियाँ एक बार में फाँकने से। फिर भी रोग समाप्त नहीं होता। और इस बीच जो समय बीतता है उसमें हमारा रोग 1% से बढ़कर 50% हो जाता है; और जब रोग 50% हो जाता है तो उसके कारण जो मानसिक चिन्ता उत्पन्न होती है, या जो तनाव उत्पन्न होता है, या जो भय की स्थिति आती है, वह रोग को और भी बढ़ा देती है। रोग रहता है पचास प्रतिशत,

हम अनुभव करते हैं निन्यानवे प्रतिशत। रोग बढ़ जाता है, क्योंकि ये जो तनाव, भय और विचारों का प्रवाह है, यह मैग्निफाइंग ग्लास की तरह है। रोग का मूल कारण भले ही अत्यन्त गौण हो, लेकिन भय और तनाव के कारण यह 200% बढ़ जाता है।

अन्त में हम सोचते हैं कि अब तो सब प्रकार की चिकित्सा करा ली है। भारत के ऑल इण्डिया इन्स्टीट्यूट में दिखला चुके हैं, अमेरिका-इंग्लैण्ड में चिकित्सा करवा चुके हैं; कहीं कुछ फायदा नहीं हुआ। चलो, एक अंतिम प्रयोग करते हैं योग में। और जब योग की शरण में आते हैं तो वह नब्बे प्रतिशत बीमारी चालीस दिन में ठीक हो जाती है। हम आपको एक दृष्टांत देते हैं।

हमने एक चिकित्सात्मक अनुसंधान किया था। मधुमेह पर प्रयोग हुआ था। उसमें ऐसे रोगियों को लिया गया, जिन्हें चालीस साल से मधुमेह था। वे इन्लुलिन का इन्जेक्शन लिया करते थे, भोजन में परहेज किया करते थे, हर सप्ताह खून की जाँच करवाते थे, हर दोपहर अपने रक्तचाप की जाँच करते थे, और जब कहीं यात्रा पर जाते थे तो उनके सूटकेस में कपड़ों से ज्यादा तो ये सब उपकरण और दवाइयाँ भरी रहती थीं। ऐसे रोगियों ने चालीस दिन तक लगातार योगाभ्यास किया। यह प्रयोग हुआ था उड़ीसा के बुरला मेडिकल कॉलेज के तत्त्वावधान में।

उस समय हमें कार्य मिला था हर व्यक्ति के खून की जाँच कराना। चालीस दिनों में ऐसे उत्साहवर्धक परिणाम सामने आए कि लगता था बीमारी जड़ से समाप्त हो गयी है। दवाई बंद हो गयी। और चालीसवें दिन जब हम लोगों ने उनकी विदाई की, तो जितनी चीजें उन्होंने सालों से नहीं खायी थीं, जैसे, मिठाइयाँ, चावल, आलू इत्यादि, उन्हें खिलाकर विदा किया गया। इस अनुसंधान को हुए लगभग पन्द्रह वर्ष बीत चुके हैं, और उनमें आज तक रोग का पुन: आक्रमण नहीं हुआ है।

हमने आपको यह दृष्टान्त इसलिए बतलाया कि जब ऐसी विषम परिस्थिति में पहुँचकर हम योग का सहारा लेते हैं, तब भी योग काम करता है। तो क्यों न हम प्रारम्भ में ही इस बीमारी की जड़ को निकाल दें?

इसलिए चिकित्सात्मक, निरोधक एवं स्वास्थ्य-वर्धक पक्षों में सर्वोत्तम माना गया है स्वास्थ्य-वर्धक पक्ष को। अभी से ही अभ्यास शुरू कर दें। इसे एक आदत बना लें। आदमी सिगरेट पी सकता है, पान खा सकता है, तो

योग करने में हिचक क्यों? जब बुरी आदत को हम अपना सकते हैं तो अपने जीवन के लिए एक अच्छी चीज क्यों नहीं अपना सकते? एक बुरी आदत के द्वारा जब हम अपनी आयु को कम करते हैं तो एक अच्छी आदत से आयु को बढ़ा भी सकते हैं।

तनाव का प्रबन्धन

इसलिए स्वास्थ्य-वर्धक पक्ष पर, विशेषकर आप लोगों को अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योंकि आपके जीवन में, आपके कार्यक्षेत्र में अधिक तनाव रहता है। चाहे उसका कारण आपका कार्यक्षेत्र हो, पारिवारिक समस्या हो या जीवन की कोई कमी हो, लेकिन अगर आप इस तनाव को नियंत्रित नहीं करेंगे, तो बाद में यह एक रोग के रूप में सामने आयेगा।

तनाव के निराकरण के लिए योग एक बहुत सरल क्रिया बतलाता है – योगनिद्रा। ऐसी कौन-सी पद्धति है इस संसार में जो कहे कि अगर तुम मानसिक अशान्ति और क्लेश को दूर करना चाहते हो तो कुछ मत करो, चुपचाप लेटकर बीस मिनट-आधे घंटे तक कुछ निर्देशों का पालन करो। योगनिद्रा का अभ्यास बहुत ही कामयाब सिद्ध हुआ है।

पिछले ही वर्ष बर्लिन में मनोवैज्ञानिकों का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें पूरे यूरोप के मनोवैज्ञानिक आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मनोवैज्ञानिक तकनीकों को और संवारने के लिए एकत्र हुए थे। उस सम्मेलन में बिहार के एक डॉक्टर गए थे। उनका नाम है डॉ.इन्दुभूषण। वे भागलपुर विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग के प्रमुख हैं। उन्होंने वहाँ जाकर योगनिद्रा पर व्याख्यान दिया; और अन्त में परिणाम यह हुआ कि जितने मनोवैज्ञानिक आए थे, उन्होंने एक मत से योगनिद्रा को अपनी चिकित्सा पद्धति का एक अंग बना लिया। अब वहाँ पर प्रशान्तक दवाइयों के बदले योगनिद्रा की सलाह दी जाती है।

इस बात से तो सभी सहमत हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति लगभग दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व युंग तथा फ्रॉयड के काल में हुई। और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी अपनी शैशव अवस्था में है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही व्यापक स्तर पर ऐलोपैथिक दवाइयों का प्रयोग शुरू हुआ। पेनिसिलीन की खोज हुई, और पेनिसिलीन की खोज के बाद चिकित्सा विज्ञान विकसित होता गया। लेकिन योग की पद्धतियाँ, योग का मनोविज्ञान दो-ढाई सौ वर्ष पुराना नहीं, वह तो हजारों वर्ष प्राचीन और अनुभवात्मक है।




OK



योग दिग्विजयी
अवधूत स्वामी सत्यानंद
त्याग स्वर्ण जयंती एवं
अखिल भारतीय योग सम्मेलन








सत्यानन्द विहार
आवासीय परिसर का
शिलान्यास
स्वामी सत्यानंद सरस्वती
कमलों द्वारा दिनांक १५ जुलाई
को सम्पन्न हुआ
जी. व्यास अध्यक्ष



यही कारण है कि आज विज्ञान यह जानने के लिए योग को शोध की नजर से देख रहा है कि हमारे जीवन को स्वास्थ्य प्रदान करने में योग क्या भूमिका निभा सकता है। रोगों के निदान में ही नहीं, बल्कि व्यवहार, विचार और आदत परिवर्तन में इसकी क्या भूमिका है? पागलों की चिकित्सा के लिए योग के क्या सुझाव हैं?

योग – जीवन जीने की कला

इतना तो निश्चित है कि अगर समाज और संसार योग को एक जीवन-पद्धति के रूप में अपना लें, तो यह हमारे जीवन जीने के तरीके को, जीवन को समझने के तरीके को बदल देगा, और जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने के लिए हमें बाध्य कर देगा। जब हम व्यापक दृष्टिकोण अपनायेंगे, तब ही अपने जीवन की कमियों और शक्तियों को समझ पाएँगे।

हमने विचार करके एक निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य के जीवन मे कर्म तो प्रधान है ही, इसमें कोई संशय नहीं। चाहे संसार में रहकर हम परिवार का पालन-पोषण करें; समाज के लिए, देश के लिए कार्य करें, या संन्यासी के रूप में आश्रम का संचालन करें, ज्ञान की शिक्षा प्रदान करें, कुछ भी करें, कर्म तो करना ही है। कर्म तो प्रधान है ही, फिर त्याग किसका?

इस कर्ममय जीवन में हमें चार प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, जिन्हें हमने नाम दिया है, स्वान सिद्धान्त (SWAN Theory)। 'एस' का मतलब होता है 'स्ट्रेंथ' – व्यक्ति का सामर्थ्य। 'डब्ल्यू' का मतलब हाता है 'वीकनेस' – जीवन की कमजोरी। 'ए' का मतलब होता है 'एम्बीशन' – जीवन में व्याप्त महत्त्वाकांक्षायें। और 'एन' का मतलब हाता है 'नीड' – जीवन की आवश्यकताएँ। यही चार स्थितियाँ हमारे विचारों, कर्मों और जीवन को दिशा प्रदान करती हैं। और ये ही तनाव का कारण बनती हैं, सुख-दु:ख का कारण बनती हैं।

इसको संतुलित रूप से देखने के लिए जब हम योग को अपने जीवन में अपना लेते हैं, तब महत्त्वाकांक्षाओं और आवश्यकताओं को देखकर, अपनी कमजोरियों और अपने सामर्थ्य को समझकर, हम जो कर्म करते हैं, जिस मार्ग का चयन करते हैं, वह उत्तम मार्ग होता है। उसमें अशान्ति और क्लेश की उत्पत्ति नहीं होती, हम एक सुखद जीवन जीते हैं।

इसलिए हम तो इतना ही कहेंगे कि योग जीवन जीने की कला है। शुरुआत कहीं से भी करो, चाहे आसन के अभ्यास से करो, चाहे योग-निद्रा के अभ्यास

से या ध्यान के अभ्यास से। योग वह तरीका है जिसके द्वारा हम अपने जीवन में घटने वाली घटनाओं को देखकर, समझकर उन्हें नयी दिशा दे सकते हैं, और अपने जीवन का सर्वांगीण विकास कर सकते हैं।

आप से इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि जब कभी संभव हो, जैसे भी संभव हो, आप इस जीवन-पद्धति को अपनाने का प्रयत्न करें। यही सबसे सुरक्षित, सस्ता और उत्तम उपाय है।



योग विज्ञान भी है

योग एक बहुआयामी विज्ञान है जिसका सम्बन्ध हमारे शरीर, मन, भावना तथा आत्मा के विकास से है। वैसे तो योग के बारे में अनेक प्रकार की मान्यताएँ समाज में फैली हुई हैं। कुछ लोग योग को एक शरीर-विज्ञान के रूप में देखते हैं, कुछ लोग अध्यात्म-विज्ञान के रूप में देखते हैं, लेकिन इस प्रकार की जितनी विचारधाराएँ हैं, वे योग के एक ही पक्ष के बारे में हमें समझाती हैं।

आज की दुनिया में मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक रूप से पीड़ित है। वह खोज करता है कि किस प्रकार एक सुखी-सम्पन्न जीवन बिता सके। इसी खोज में हम सहारा लेते हैं अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्यों का, अनेक प्रकार की विधियों का, जिनके द्वारा हम आत्म-शान्ति को प्राप्त करने की कामना रखते हैं। जब हम इन विधियों को अपने जीवन में अपनाते हैं, तब यही चाहते हैं कि इस विधि मात्र के अभ्यास से हमारा जीवन परिवर्तित हो जाए। लेकिन किसी-भी अभ्यास के साथ यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में तीन बिन्दुओं के प्रति अधिक जागरूक हो जाएँ। हमारे जीवन के ये तीन बिन्दु हैं – ईश्वराभिमुख होना; स्वयं को शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल बनाना; तथा स्वयं को एक पुरुषार्थमय जीवन में ढाल देना।

इन तीनों को योग तीन नामों से जानता है। जप, मतलब ईश्वराभिमुख होना। तप, मतलब तपस्या, अर्थात् आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न करना। और त्याग, मतलब स्वयं को विकार रहित, अनासक्त बनाने का प्रयत्न करना। योग की जितनी प्रक्रियाएँ हैं, वे मनुष्य-जीवन को इसी दिशा की ओर मोड़ती हैं।

जब जीवन में इन तीनों में से किसी का अभाव रहता है, तब हम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक व्याधियों का सामना करते हैं; जीवन मूल्यों में गिरावट

को देखते हैं; मानवीय मूल्यों में मिलावट को देखते हैं। इसलिए ये जो तीन स्थितियाँ हैं, इन्हीं को प्राप्त करना योग का उद्देश्य रहता है; और साथ-ही-साथ योग के द्वारा यह प्रयत्न भी किया जाता है कि हमारे जीवन में जो अतीन्द्रिय शक्ति है, उसकी जागृति हो। अतीन्द्रिय शक्ति की जागृति ही योग का अन्तिम उद्देश्य है।

यौगिक मनोविज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का समुचित प्रयोग नहीं कर पाता। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस बात को दुहराता है। अगर आप विज्ञान का अध्ययन करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि हम अपने जीवन में मस्तिष्क का केवल दसवाँ हिस्सा प्रयोग में लाते हैं, और शेष नब्बे प्रतिशत का उपयोग नहीं होता। मनोविज्ञान का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि हम अपने मन के केवल एक छोटे-से हिस्से का प्रयोग करते हैं, और मन का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जो सुषुप्त है, जिसका प्रयोग हम नहीं कर पाते।

हमारे भीतर मस्तिष्क तथा मन की जो क्षमता है, उसे जाग्रत करके जीवन के सर्वांगीण विकास का जो मार्ग है, उसको हमारे प्राचीन चिन्तकों ने नाम दिया – योग। यही पारम्परिक योग है जिसकी शिक्षा हम आधुनिक समाज के उत्थान के सन्दर्भ में प्रदान करते हैं।

आधुनिक समाज के सन्दर्भ में, मनुष्य का शरीर रोग से पीड़ित है, अत: एक आरोग्यपूर्ण जीवन बिताने के लिए रोग निवारण पहला ध्येय हो जाता है। रोग निवारण हेतु भी योग में अनेक अनुसन्धान तथा शोध किये गये हैं। आज तक जो परिणाम सामने आये हैं, उनसे मालूम पड़ रहा है कि अधिकतर जो शारीरिक रोग होते हैं, चाहे अपच हो, हृदय-संस्थान सम्बन्धी रोग हो, दमा या ब्रोंकाइटिस जैसा श्वसन-संस्थान सम्बन्धी रोग हो, मधुमेह हो, रक्तचाप हो, या अन्य कोई रोग हो, इन अभ्यासों के द्वारा कैंसर तथा एड्स जैसे असाध्य रोगों से भी मुक्ति पा सकते हैं। ये अभ्यास शरीर को आरोग्य प्रदान करने के लिए बहुत-ही सरल और सुगम उपाय हैं। इसके साथ-साथ योग मानसिक आरोग्य के लिए भी प्रयत्नशील है ताकि हम अपने जीवन में शान्ति, आनन्द और उल्लास का अनुभव कर सकें, और मानवीय गुणों से परिपूर्ण जीवन जी सकें।

हमारी संस्कृति ने हमें द्वेष की, हिंसा की शिक्षा नहीं दी है। उसने हमें प्रेम, स्नेह और करुणा की शिक्षा दी है। ये होते हैं मानवीय गुण, जिन्हें अपनाने के

लिए प्रयत्न होना चाहिए। इसी को योग धर्म कहता है। *'धारयते इति धर्मः'* अर्थात् जिस गुण को अपने जीवन में धारण कर हम अपने जीवन को परिपूर्ण बना सकते हैं, उसे योग ने धर्म की संज्ञा दी है। धर्म की प्राप्ति मानसिक शान्ति के साथ होती है। मानसिक शान्ति को प्राप्त करने के लिए सबसे पहले इस विक्षिप्त मन को शान्त किया जाता है। ध्यान, मन्त्र, जप और एकाग्रता के द्वारा हम आन्तरिक चंचलता को समाप्त करके इन दिव्य मानवीय गुणों को अपने भीतर जाग्रत कर सकते हैं। यह मैं नहीं कह रहा हूँ। यह उन लोगों का मत है, जिन्होंने इन अभ्यासों को किया है, और जो इस विधि के द्वारा अपने जीवन का सर्वांगीण विकास कर पाये हैं।



सत्संग

यह बताएँ कि आँखों के कमजोर होने पर क्या वह दृष्टि फिर से प्राप्त की जा सकती है? अगर हाँ, तो कैसे?

आँखों की दृष्टि को वापस लाने के लिए, चश्मा उतारने के लिए योग में कुछ अभ्यास बतलाए जाते हैं। इनका उल्लेख हमारे आश्रम से प्रकाशित योग साहित्य में किया गया है। ये अभ्यास आँखों की मांसपेशियों को शक्ति प्रदान करते हैं, उनकी कमजोरियों को दूर करते हैं।

जब मांसपेशियों की थकान तथा कमजोरी दूर हो जाती है तब दृष्टि वृद्धि के लिए एक दूसरी विधि का अभ्यास करते हैं, जिसका नाम है त्राटक। इसमें मोमबत्ती या दीपक की लौ को बिना पलक झपकाए एकटक देखते हैं, और कुछ समय बाद जब आँखें गरम हो जाएँ, आँसू निकलने लगें, आप आँखों को और खुला न रख सकें, तब उन्हें बंद कर लेना चाहिए। भ्रूमध्य में उस ज्योति का जो प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है, उस पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। और जब तक वह आंतरिक प्रतिबिम्ब गायब नहीं होता, उसे देखते रहना है। जब वह गायब हो जाए तब आँखों को खोलकर पुन: इस अभ्यास को दुहराना चाहिए। इसे सामर्थ्य भर दुहराना चाहिये, धीरे-धीरे।

तीसरा अभ्यास है नेति क्रिया। एक नासिका छिद्र से पानी लेकर दूसरे से बाहर निकालना। इसके लिए एक टोंटी वाला लोटा होता है। कुनकुना पानी लेकर थोड़ा-सा नमक डाल कर, मुँह से श्वास लेते हुए, सिर को सामने झुकाकर और टेढ़ा करके टोंटी को एक नासिका में घुसाते हैं, और पानी अपने ही आप प्रवाहित होकर दूसरी नासिका से निकलता है। जैसे-जैसे पानी अन्दर जाता और बाहर निकलता है, वैसे-वैसे नासिका के भीतर की मांसपेशियाँ

और नसें संवेदनशील हो उठती हैं। उनमें स्पन्दन की उत्पत्ति होती है। और जब स्नायविक क्रियाशीलता बढ़ती है तब आँखों की ज्योति पुन: वापस आ जाती है। हमने देखा है कि इन तीनों अभ्यासों से कुछ सालों के भीतर ही चश्मा पूरी तरह से उतर जाता है।

क्या चर्म रोग एवं एलर्जी के लिए योग में कोई उपचार है?

एलर्जी तो बहुत प्रकार की होती है। लेकिन एलर्जी को दूर करने के लिए जो सहज उपाय हमारे सामने हैं, उनमें एक तो नेति ही है। नासिका सम्बन्धी एलर्जी या श्वसनक्रिया सम्बन्धी एलर्जी, जैसे, धूल, मौसम में आर्द्रता और वातावरण में प्रदूषण के कारण होने वाली एलर्जी नेति क्रिया से दूर हो जाती है।

दूसरे प्रकार की एलर्जी का सम्बन्ध आहार से रहता है। जैसे कभी-कभी हम कुछ खा लेते हैं, और उसका हमारे शरीर पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। ऐसी एलर्जी में कुंजल क्रिया करनी चाहिए। खाली पेट पानी पीकर फिर उसे बाहर निकाल देना। यह बहुत कामयाब अभ्यास है। इसके साथ-ही-साथ प्रतिरक्षा तन्त्र की क्षमता को बढ़ाने के लिए कुछ अभ्यास किए जाते हैं, जिनमें प्रमुख अभ्यास हैं – सूर्यनमस्कार, कपालभाति एवं नाड़ी शोधन प्राणायाम। इतने अभ्यासों से सभी प्रकार की एलर्जी दूर हो सकती है।

जो चर्म रोग होते हैं, जैसे एग्ज़िमा, सुरायसिस इत्यादि, उनके लिए हम लोग योग में सबसे पहला काम कराते हैं पेट की सफाई, क्योंकि ऐसा पाया गया है कि जितने चर्म रोग हैं उनका मुख्य कारण हमारा पाचन-संस्थान है। अगर आहार ठीक तरीके से नहीं पचता, या मल का निष्कासन ठीक तरीके से नहीं होता, या जिगर और गुर्दे द्वारा विषाक्त तत्त्वों का निष्कासन ठीक से नहीं होता तो चर्म रोग होते हैं। इसलिए पहला काम हम लोग कराते हैं पेट की सफाई, और फिर प्रतिरक्षा तन्त्र की क्षमता को बढ़ाने के लिए अन्य अभ्यास कराए जाते हैं, जिनमें सूर्य नमस्कार प्रमुख है।

सिर में हमेशा दर्द बना रहता है, क्या यह दर्द दूर हो सकता है?

अवश्य दूर हो सकता है। नेति के द्वारा आप इस दर्द को दूर कर सकते हैं, और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा भी। बहुत बार दर्द का कारण जानना आवश्यक होता है, क्योंकि कभी-कभी दर्द हमारी शारीरिक स्थिति के कारण भी हो जाता

है। आप लोगों का अनुभव होगा कि जो लोग टेबल-कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं, उनके कंधे कड़े हो जाते हैं और धीरे-धीरे सिर भारी होने लगता है।

अगर दोषपूर्ण शारीरिक स्थिति के कारण सिरदर्द होता है तो कुछ सरल अभ्यास करने आवश्यक हैं, जैसे, पवनमुक्तासन के अभ्यास, ताकि शारीरिक तनाव दूर हो जाए। गर्दन और कंधों की मांसपेशियाँ, जो एक स्थिति में होने के कारण कड़ी हो जाती हैं, उनका कड़ापन दूर हो जाए। और जिस समय कड़ापन दूर होगा, सिरदर्द दूर हो जाएगा।

अगर तनाव के कारण सिरदर्द होता है तो प्राणायाम, विशेषकर भस्त्रिका और भ्रामरी प्राणायाम से तथा नेति क्रिया से ठीक हो सकता है।

कद बढ़ाने के लिए कौन-सा उपाय इस्तमाल किया जाए?

ऊँचाई बढ़ाने के लिए, विशेषकर बच्चों के लिए, दो प्रमुख अभ्यास हैं। पहला अभ्यास है सर्वांगासन। बच्चों में इसका ज्यादा लाभ दिखलायी देता है। सर्वांगासन में, गर्दन में स्थित थायराइड और पैराथायराइड ग्रन्थियाँ, जो शारीरिक विकास को नियन्त्रित करती हैं, प्रभावित होती हैं, और सुचारु रूप से काम करती हैं, जिससे सामान्य ऊँचाई प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् दूसरा अभ्यास है ताड़ासन। ताड़ासन से सभी मांसपेशियों का विस्तार होता है। कद बढ़ाने के लिए ये दो अभ्यास अच्छे माने गए हैं।

योगी और साधु में कुछ अन्तर है? अगर है, तो क्या?

भगवान् कृष्ण के अनुसार योगी उसे कहा जाता है जो संयम का पालन करता है। जिस मनुष्य के भीतर आत्म-संयम हो, वही योगी है और यह एकदम सही परिभाषा है।

सामान्य रूप से हम लोग भोगी होते हैं, और भोग करने के लिए तो हमें ईश्वर ने कहा है। ईशावास्य उपनिषद् के पहले ही मन्त्र में कहा गया है –

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

यह जगत् तो ईश्वर का ही है, और तुम यहाँ पर उसी के द्वारा यात्रा पर भेजे गए हो। जब तक तुम इस स्टेशन में हो, यहाँ पर जो सुख-सुविधाएँ हैं, उनका भोग करो।

आप एक शहर से दूसरे शहर में जाते हैं तो रास्ते में अनेक स्थानों पर गाड़ी बदलते हैं। यदि गाड़ी तीन-चार घंटे विलंबित हो, तो आप स्टेशन में क्या करेंगे? घूमेंगे, वहाँ की जो सुख-सुविधाएँ हैं उनका उपभोग करेंगे। रेस्तराँ है तो चाय पीयेंगे, नाश्ता करेंगे। पुस्तकों की दुकान है तो पुस्तक देखेंगे, पेपर पढ़ेंगे। विश्राम गृह है तो विश्राम करेंगे। उपभोग होता है न?

ठीक उसी प्रकार से यह जिन्दगी भी हम लोगों का एक पड़ाव है। कभी-कभी हम लोगों की गाड़ी दस जन्म के बाद आती है, कभी सैकड़ों जन्म के बाद आती है, और कभी एक जन्म में ही आ जाती है। लेकिन जब तक हम इस पड़ाव में बैठे हैं, तब तक जो भोग उपलब्ध हैं उनका उपभोग हमें करना है। इसलिए कहा गया है कि हम सभी भोगी हैं। लेकिन जब भोग की अति हो जाती है तब हम भोगी से रोगी बन जाते हैं, और जब भोग को हम अपने नियन्त्रण में रखते हैं, यह भली-भाँति समझते हैं कि यह हमारी सीमा है, इस सीमा से हमें बाहर नहीं जाना है, तब हम योगी हो जाते हैं।

इस प्रकार योगी का मतलब होता है वह व्यक्ति जो संयमी है, जागरूक है। और साधु का मतलब होता है वह व्यक्ति जिसने मांगलिक कार्यों के लिए अपना जीवन दान दे दिया हो। 'साधु' का शाब्दिक अर्थ होता है अच्छा, बहुत अच्छा। जो अच्छा कर्म करे, मांगलिक कर्म करे, वह व्यक्ति साधु है।

योगी या साधु का यह मतलब नहीं कि हम गेरू वस्त्र पहन लें। साधु और योगी तो आप लोगों में भी हैं, और हम लोगों के समूह में भी हैं।

योगी और साधु, चेतना के, या जीवन के कर्मों के अनुसार एक उपाधि दी जाती है। चेतना के अनुसार, योगी और कर्म के अनुसार, साधु।



गीता का सन्देश

जिस योगेश्वर के मंदिर में हम लोग आज बैठे हुए हैं, वे तो व्यावहारिक योग के प्रचारक रहे हैं, जिन्होंने युद्धभूमि के मध्य, धर्मक्षेत्र में अपने शिष्य अर्जुन को योग की शिक्षा प्रदान की थी। ऐसे महान् योगेश्वर, प्रभु श्रीकृष्ण मानव जीवन में योग के प्रणेता हैं, क्योंकि यही वह शिक्षा है जिसका अनुसरण एक संन्यासी के रूप में, एक योग प्रचारक के रूप में हम करते आए हैं। और इसी शिक्षा से हम स्वयं को लाभान्वित भी करते आए हैं। आज यही शिक्षा आपको भी देना चाहते हैं।

गीता के जो प्रमुख श्लोक हैं, जो सभी भावनाओं से परिपूर्ण हैं, उन्हें ही हम स्मरण रखते हैं। गीता के ये दो श्लोक प्रश्न और उत्तर के रूप में हैं। प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र संजय से कहते हैं, 'हे संजय! मुझे यह बताओ कि धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में मेरे और पाण्डु पुत्रों के बीच क्या घटना घट रही है।' और इस प्रश्न का उत्तर संजय गीता के सबसे अन्तिम श्लोक में देते हैं। वे कहते हैं, 'जहाँ पर योगेश्वर कृष्ण साक्षात् विराजमान हैं, जहाँ पर उनका शिष्य धनुर्धारी अर्जुन विराजमान है, वहाँ पर क्या हो सकता है? वहीं पर तो विजय है। वहीं पर सब कुछ है। जीत उसी की होती है जिसके साथ प्रभु हैं।'

ये दो श्लोक हम संन्यासियों के जीवन को प्रेरणा प्रदान करते हैं, क्योंकि एक श्लोक तो सांसारिक विचार को प्रकट करता है–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव:।
मामका: पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ 1.1 ॥

यह है सांसारिक विचार, जो जानने का प्रयत्न करता है कि क्या हो रहा है, क्या होने वाला है, क्या हुआ है। और इस विचार में ही व्यक्ति अपने आपको व्यथित कर लेता है।

जो दूसरा विचार है, वह एक भक्त का, एक ईश्वर आश्रित मनुष्य का है, जो कहता है कि अगर तुम अपने जीवन को ईश्वर के सुपुर्द कर देते हो, अगर तुम ईश्वरीय प्रेरणा से अपने जीवन में आगे बढ़ते हो, तो तुम अपने जीवन में कभी निराशा, संताप और पाप को नहीं देखोगे। केवल विजय मार्ग में आगे बढ़ते रहोगे, जहाँ कभी पराजय नहीं होती। और ईश्वर को समर्पित होने का मार्ग है – योग।

ईश्वर से सम्बन्ध

योग-मार्ग का तात्पर्य होता है स्वयं को ईश्वर के साथ जोड़ देना। यहाँ केवल यही भावना रहती है –

अब तो दी है नैया नदी में बहा, जा लगी जिस किनारे चले जाएँगे।

एक घटना याद आ रही है। गंगा दशहरा के अवसर पर माता यशोदा बालकृष्ण के साथ यमुना के तट पर दीया जलाने गयी थीं। पूरे गाँव की माताएँ-बहनें दीपक जलाने के लिए नदी क्षेत्र में गयी हुई थीं। सब दीप जला-जलाकर उसे नदी की धारा में प्रवाहित कर रहे थे। प्रभु के उस नटखट बाल रूप के बारे में तो हम सब जानते ही हैं। वे घुटने भर पानी में घुस गए और जो दीया उनके सामने आता, उसे उठाकर वे किनारे रखते जाते थे। उन्हें ऐसा करते देख माता यशोदा ने पूछा कि तुम क्या कर रहे हो। हम लोग तो दीपक बहा रहे हैं, और तुम उन्हें बाहर निकालते जा रहे हो। तब प्रभु बहुत ही सरल भाव से कहते हैं – 'क्या करूँ माँ, मैं तो अपनी आदत से लाचार हूँ। इस नदी में जो दीपक बहता हुआ मेरे सामने आता है, उसे नदी से बाहर निकालना मेरा कर्त्तव्य और धर्म है। और जो दीपक नदी की मध्य-धारा में चला जाता है, उसे मैं नहीं निकाल सकता। मैं तो छोटा-सा हूँ। मैं कैसे जाऊँ नदी की मध्य-धारा में?'

यह एक बहुत सुन्दर कहानी है। इससे हमें यही प्रेरणा और शिक्षा मिलती है कि हम भी दीप समान हैं – *'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'*। हमारे भीतर जो जीव तत्त्व है, उसका विनाश नहीं होता। वह अविनाशी आत्मा माया द्वारा प्रेरित इस जीवन-सागर में बह रही है। कर्मवश कहिए या प्रारब्धवश, कभी-कभी इस जीवन-सागर की एक प्रबल धारा हमें दूर, सागर के मध्य में ले जाती है; और कृपावश कहिए या ईश्वरीय इच्छा कहिए, कभी-कभी आत्मा की वह ज्योति तट की तरफ आती है। और जब वह ज्योति तट की तरफ आती है तब प्रभु स्वयं पानी में उतरकर उस ज्योति का उद्धार करते हैं।

संसार में जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, विषयों के प्रति हमारी जो आसक्ति होती है, वह हमें मध्य-धारा की ओर ले जाती है, संसार-सागर के बीच में ले जाती है। लेकिन अनायास ही जब हम ईश्वरीय प्रेरणा से अध्यात्म-मार्ग के विषय में मात्र चिन्तन करते हैं, प्रभु का चिन्तन करते हैं तो एक दूसरी लहर उत्पन्न होती है जो हमें धीरे-धीरे किनारे की ओर धकेलने लगती है। वही आत्मिक चिन्तन, वही ईश्वर-नाम-स्मरण एक ऐसी शक्ति के रूप में बदल जाता है कि प्रभु खुद धारा में घुसकर हमें बाहर निकाल लेते हैं।

इसीलिए कलियुग के लिए कहा गया है कि भगवन्नाम-स्मरण ही आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए, संसार-सागर से उद्धार के लिए सबसे सरल तथा सुगम उपाय है। लेकिन भगवन्नाम-स्मरण करने को भी हम एक कला के रूप में जानते हैं। और उस कला को, उस पद्धति को जो हमें बतला दे, सिखला दे, हम योग के नाम से जानते हैं, जिसके प्रणेता महायोगेश्वर श्रीकृष्ण हैं जिन्होंने जीवन के विषादों के मध्य योद्धाओं को योग की शिक्षा प्रदान की।

योद्धा बनो

लड़ाई में तो हर समय कामना रहती है कि हम विजेता हों, लेकिन पराजय को भी अंगीकार किया जाता है। अगर पराजय को एक योद्धा अंगीकार न कर पाए तो योद्धा नहीं कहलाता। योद्धा के लिए विजय और पराजय का एक ही मूल्य है। दोनों स्थितियों में वह अपने आत्म-नियंत्रण को नहीं खोता। क्या आपने कभी सुना है कि किसी योद्धा को युद्धभूमि में हृदयाघात हुआ? नहीं। लेकिन जो योद्धा नहीं है, गृहस्थ है, उसे तो घर बैठे हृदयाघात हो जाता है। जो गृहस्थ है, संसार में लिप्त है, वह युद्धभूमि में जाता ही नहीं। इसलिए प्रभु ऐसे व्यक्ति को शिक्षा देते हैं जो योद्धा है।

प्रभु की यही कामना रहती है कि हर मनुष्य एक योद्धा बने। योद्धा ही अन्त में शाश्वत सुख का भोग करता है। यही शिक्षा हमने सहज रूप से भगवान् श्री योगेश्वर से प्राप्त की है। उन्हीं की कृपा है, आशीर्वाद है कि हमारे भीतर योग-विद्या के प्रचार-प्रसार की भावना उत्पन्न हुई।

गीता योगशास्त्र है, ब्रह्मविद्या है, मनुष्य जीवन में प्राप्ति का, अनुभव का एक परिणाम है। अत: हम लोगों का प्रयत्न होना चाहिए कि हम एक योद्धा बनें, और योद्धा बनकर प्रभु के सनातन सन्देशों का अनुसरण करें। तभी हमें विभूति, विजय और श्री की प्राप्ति होगी।

योग ने उनके जीवन में पूर्णाहुति पायी

पूज्य गुरुदेव का जीवन वास्तव में हमारे लिए एक आदर्शमय जीवन, एक योगमय जीवन रहा है। योग के जिस उद्देश्य के बारे में हम पढ़ते हैं, योग की जो धारणा हमारे मन में पारम्परिक तरीके से है, योग की जो असीम सम्भावनाएँ हैं, जिनके बारे में हम मात्र कल्पना ही कर सकते हैं, वे उनके जीवन में प्रत्यक्ष दिखायी देती हैं।

योग का तात्पर्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में आत्मानुभूति से है। आत्मानुभूति ऐसी स्थिति नहीं जिसे हम मात्र समाधि में प्राप्त करेंगे। आत्मानुभूति वह स्थिति नहीं, जिसे हम आदर्शमय जीवन बिताकर प्राप्त करेंगे। आत्मानुभूति की स्थिति वह है, जिसमें जीवन के सभी विचारों और कर्मों में एक सामंजस्य की स्थापना हो चुकी हो, और मानव की यह सीमित चेतना उस असीम चेतना के साथ जुड़ चुकी हो, जिसे शास्त्रों की भाषा में 'ब्रह्म' और सामान्य भाषा में 'ईश्वर' कहा जाता है।

ईश्वर वह सनातन सत्ता है जो अपरिवर्तनशील है। ब्रह्म उस सत्ता का नाम है जो हमेशा विकासशील है। मानव चेतना ही परिवर्तनों से गुजरते समय सुख-दुःख, संताप, क्लेश, राग, द्वेष, तनाव, विक्षिप्तता इत्यादि का अनुभव करती है, क्योंकि हमें वह विधि मालूम नहीं जिसके द्वारा हम जीवन की इन अवस्थाओं से अप्रभावित रहकर स्वयं को एक संयत जीवन बिताना सिखा सकें।

जीवन का स्पष्ट लक्ष्य

यह योग है जिसने हमारे स्वामीजी के जीवन को ऐसे परिवर्तित कर दिया कि उसका परिणाम आज हम सब देखते हैं। वह परिणाम क्या है? परिणाम यह

कि उन्होंने अपने जीवन में कभी अपनी मानसिक स्पष्टता और अपने लक्ष्य को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।

जब सन् 1983 में गुरुजी ने मुझे वापस बुलाया और कहा कि अब काम तुम्हें सम्हालना है, तब कुछ क्षणों के लिए मुझे विश्वास नहीं हुआ कि मैं सही सुन रहा हूँ। जब बात समझ में आयी तो मुझे विषाद ने घेर लिया। यह क्या हो रहा है? गुरुजी कहाँ जा रहे हैं? क्यों मुझे इतनी बड़ी जिम्मेदारी सौंप रहे हैं? मैं, ऐसा व्यक्ति जो कई सालों तक विदेश में रहने के कारण हिन्दी तक भूल चुका था। केवल अंग्रेजी का ज्ञान था, न हिन्दी आती थी न संस्कृत। न योग का शास्त्रीय और पारम्परिक ज्ञान ही था। ऐसे निरक्षर तथा अज्ञानी चेले को वे किस प्रकार, किस लिए, किस कारण से यह जिम्मेदारी सौंप रहे थे, समझ में नहीं आया। और आज तक समझ में नहीं आता है। लेकिन गुरु आज्ञा का पालन करना था।

धीरे-धीरे, जैसे-जैसे उनका सान्निध्य मिला, और उनके लक्ष्य, विचार तथा आदर्श समझ में आने लगे, वैसे-वैसे यह भी अनुभव होने लगा कि अगर संसार में इस प्रकार का मानव मिल जाए तो उसके लिए अपना जीवन देना कोई बड़ी बात नहीं। आप पूरे संसार में एक नजर दौड़ा लीजिए, कहीं नहीं पाएँगे कि किसी व्यक्ति ने आरम्भ से अन्त तक अपने लक्ष्य को अपने सामने स्पष्ट रूप से देखा हो, और साथ-ही-साथ दूसरों को भी उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता गया हो। हम लोग तो अपनी वासनाओं, इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं में इतने लिप्त रहते हैं कि अच्छाई को चाहते हुए भी, अच्छे कर्म करने की इच्छा रखते हुए भी अवरोधों का सामना करते हैं। जब वे अवरोध हमारे जीवन में आते हैं, तब वे हमारे जीवन को झकझोर देते हैं, और हम अपने सामर्थ्य, अपनी शक्ति को खो बैठते हैं।

गुरुजी के जीवन में हमने जो पाया, जो देखा और जो अनुभव किया, वह है उनकी आन्तरिक स्पष्टता। एक योग प्रचारक के रूप में भी और एक गुरु के रूप में भी। उन्होंने कभी अपने आपको गुरु के रूप में नहीं देखा। वे कहते थे– 'देखो भई, एक संन्यासी होने के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि मैं जिस सिद्धान्त, जिस विज्ञान, जिस विद्या के विषय में दूसरों को बतलाता हूँ, उसका स्वयं भी हू-बहू पालन करूँ। यह नहीं कि मैं कहूँ कुछ और करूँ कुछ। जब मैंने संन्यास लिया तो मेरा एकमात्र उद्देश्य था कि मैं उस सत्य को जानूँ जिसका वर्णन हमारे मनीषियों ने किया है। लेकिन उस सत्य की ओर अग्रसर

होने के पूर्व मुझे गुरु-ऋण से मुक्त होना था। अपने कर्मों का क्षय करना था। वासनाओं का क्षय करना था। इच्छाओं का दमन करना था। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना था। जीवन में एक सकारात्मक संकल्प लेना था। और मैंने योग के द्वारा वह सब प्राप्त कर लिया है। मैं गुरु-ऋण से मुक्त हो गया हूँ। अतः अब योग प्रचार-प्रसार का कार्य तुम लोगों का है। अगर तुम लोग इस मिशन को सम्हाल सकते हो, इस कार्य को सही प्रकार से कर सकते हो तो यह योग-वृक्ष फलता-फूलता रहेगा। लेकिन अगर तुम लोग इस कार्य को ठीक तरीके से नहीं कर पाते हो तो एक दिन आएगा जब यह वृक्ष मुरझा कर सूख जाएगा। मुझे अपने कार्यों से आसक्ति नहीं, मैं जा रहा हूँ।'

वे श्रद्धा-सुमन के रूप में संस्था की ओर से मात्र एक सौ आठ रुपये तथा छोटा-सा झोला लेकर पैदल आश्रम से बाहर निकले, और उन्होंने अपनी दूसरी तीर्थयात्रा प्रारम्भ की।

तीर्थयात्रा और तपस्या

पहली तीर्थयात्रा उनकी तब हुई थी जब उन्होंने परिव्राजक के रूप में सन् 1956 से 1963 तक पूरे भारत का परिभ्रमण किया था। दूसरी तीर्थयात्रा उन्होंने प्रारम्भ की 8-8-88 को। इस यात्रा में वे विभिन्न तीर्थस्थानों में गए। इन तीर्थस्थानों में उन्हें ईश्वरीय आदेश प्राप्त होते रहे। देखा जाए तो उनका पूरा जीवन ही ईश्वरीय आदेशों से प्रेरित रहा है। जब वे अपने परिव्राजक काल में पूरे भारत का भ्रमण कर रहे थे तब उन्हें अपने इष्टदेव, त्र्यम्बकेश्वर महादेव के समक्ष योग प्रचार करने का आदेश मिला था, और इस कार्य के लिए पूज्य परम गुरुदेव श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज का आशीर्वाद भी मिला था। और जब आंतरिक रूप से उन्हें ज्ञात हो गया कि अब मैं कर्म मुक्त हो गया हूँ, गुरु-ऋण से मुक्त हो गया हूँ तब वे पुनः त्र्यम्बकेश्वर महादेव के समक्ष पहुँचे और आगामी जीवन के लिए निर्देश माँगा। त्र्यम्बकेश्वर महादेव में उन्हें एक दृश्य दिखायी दिया तथा स्पष्ट रूप से आवाज सुनायी दी कि तुम मेरी श्मशान भूमि में जाओ, और अन्तिम श्वास तक मेरे नाम का स्मरण करते रहो।

इस आदेश को सुनने के पश्चात् उन्होंने वहीं पर अपने गैरिक वस्त्रों को त्याग दिया, और मात्र एक कौपीन को धारण कर भगवान् शिव की श्मशान भूमि देवघर (बैजनाथ धाम) आ गए। वहाँ बसने के पूर्व ही उन्होंने उस स्थान का वर्णन अपने एक संन्यासी को किया था, और उस संन्यासी ने पहले जाकर

उस स्थान को खोजा जिसका वर्णन उन्होंने 3000 किलोमीटर दूर, नासिक में किया था। यहाँ भी एक विचित्र घटना घटी। जब वह संन्यासी निर्दिष्ट स्थान की खोज में देवघर पहुँचीं, तो वहाँ बैजनाथ धाम के विशाल मंदिर में शिव जी से प्रार्थना करने के लिए अन्दर गयीं। जब प्रार्थना-स्तुति के बाद संन्यासी बाहर निकल रही थीं, तो एक पण्डे ने उनसे पूछा, 'आप क्यों आए हैं यहाँ पर?' संन्यासी ने कहा, 'हम अपने गुरुजी की साधना के लिए जमीन खोजने आए हैं।' पण्डे ने भी शायद ईश्वरीय भावना से प्रेरित होकर कहा कि एक जमीन आज ही उपलब्ध हुई है, चाहो तो चलकर देख सकते हो। यह वही जमीन थी जो गुरुजी ने बतायी थी। जमीन के मालिक ने बताया कि इस जमीन को बेचने का निर्णय तो मैंने आज सबेरे आठ बजे ही लिया है। अभी बारह बजे हैं। चार घंटे बाद आप इसी जमीन के बारे में मुझसे पूछ रहे हैं। अवश्य ईश्वर की इच्छा होगी, अत: आप इसे ले लीजिए। उसी स्थान में पूज्य गुरुदेव गए और अपने जीवन की दूसरी साधना प्रारम्भ की।

उन्होंने जीवन में अनेक साधनाएँ कीं। प्रारम्भिक साधना थी 'गुरुसेवा'– तैयारी की साधना। सेवा से जब उन्होंने ज्ञान तथा अनुभव ग्रहण कर लिया तब उनकी साधना का रूप हो गया योग-प्रचार कार्य का। और जब योग-प्रचार का कार्य समाप्त हुआ तब उनकी अगली साधना प्रारम्भ हुई, जिसका स्वरूप है तपस्या।

वे कहते हैं कि मैं बिना किसी व्यक्तिगत इच्छा के यहाँ बैठा हूँ। मैं मात्र एक नौकर हूँ। मालिक जब नौकर से कहता है कि तुम यह काम करो, तो नौकर बिना अपना दिमाग लगाए वह कार्य करता है। जिम्मेदारी उसकी नहीं है, वह तो मालिक की है। ठीक उसी भाव से, दास्य भाव से वे ईश्वर के निर्देशों का पालन कर रहे हैं। अवधूत अवस्था में रहते हैं, पंचाग्नि साधना करते हैं। मौसम के अनुसार उनकी साधना बदलती रहती है। गर्मी के दिनों में पंचाग्नि साधना – चार अग्नियाँ जलाकर उनके मध्य बैठते हैं, और ऊपर आकाश में तपता सूर्य। ये पाँच अग्नियाँ हैं।

शास्त्रों में कहा गया है कि पंचाग्नि साधना वही पुरुष कर सकता है जिसने भीतर की पाँच अग्नियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। ये पाँच अग्नियाँ हैं – काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ। अगर आंतरिक पंचाग्नि पर नियंत्रण न हुआ हो तो बाह्य अग्नि से शरीर झुलस जाता है। जिस वेदी पर बैठकर वे साधना करते हैं उसका तापमान 90 डिग्री तक चला जाता है, पर फिर भी वे

एकदम निश्चिन्त होकर, मध्य में बैठ केवल नाम-स्मरण में लीन रहते हैं। रात को बाहर एक चबूतरे पर सोते हैं। ठण्ढ हो, बरसात हो, गर्मी हो, मात्र एक कौपीन धारण करते हैं। यह तपस्या वे अब कर रहे हैं, जब उनकी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष हो चुकी है! सत्तर वर्ष की अवस्था में हम अपने लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं की खोज करते हैं ताकि बुढ़ापे में हमें किसी प्रकार की परेशानी न हो। और ये एक ऐसे महाराज हैं जो इस अवस्था में सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का त्याग कर कठोर तपस्या में रत हो गए हैं!

उनका जीवन संन्यासियों के लिए तो प्रेरक है ही, सांसारिक लोगों के लिए भी प्रेरक है, क्योंकि इसमें योग की पूर्णाहुति दिखलायी देती है।



सत्संग

कान में आवाज आना, निद्रा की कमी और नकारात्मक चिन्तन को दूर करने के लिए क्या करना चाहिए?

अनिद्रा और उच्च रक्तचाप के रोगी के लिए कौन-से अभ्यास हैं?

चर्म रोग पिछले ग्यारह वर्षों से है। क्या योग से चर्म रोग का निदान सम्भव है?

हृदय रोगी को कौन-सा अभ्यास नहीं करना चाहिए? और दो-ढाई वर्ष के अन्तराल के पश्चात् क्या पुनः योगाभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है?

इन प्रश्नों में हृदय रोग, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप और चर्म रोग की चर्चा की गयी है,और इन चारों के लिए जो अभ्यास बतलाए जाते हैं वे एक-दूसरे के पूरक हैं। हृदय रोग तथा उच्च रक्तचाप की स्थिति में कुछ ऐसे सरल अभ्यासों को करना चाहिए जिनसे हमारे आन्तरिक अंगों की कार्य-प्रणाली में विश्राम की स्थिति उत्पन्न हो। अगर योगाभ्यास द्वारा अंगों में तनाव की उत्पत्ति होती है तो हमारे अभ्यास ठीक नहीं हैं, ऐसा मान लेना चाहिए। इसी उद्देश्य से उच्च रक्तचाप तथा हृदय रोग में योगनिद्रा का निर्देश दिया जाता है।

योगनिद्रा का अभ्यास एक विचित्र अभ्यास है। अपनी आँखों देखा एक उदाहरण आपको बतलाते हैं। जब वियतनाम में युद्ध हो रहा था, तब वहाँ के सेना प्रमुख ने अपनी यूनिट के साथ कैंप डाला था। एक दिन वे जंगल में पेट्रोलिंग कर रहे थे। रात्रि के समय स्काउटिंग के लिए थोड़ा आगे निकल

गए। पीछे से आक्रमण हुआ और यूनिट के जितने लोग निद्रा में थे, सबको चाकू मार दिया गया। जब वे वापस लौटे तो उन्होंने देखा कि उनके सभी सैनिक मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। उस समय उन्हें सदमे के कारण बहुत जबरदस्त हृदयाघात हुआ, क्योंकि वे उनकी रक्षा नहीं कर सके थे। ये सैनिक अठारह-उन्नीस साल के युवक ही थे।

उन्हें ऑस्ट्रेलिया के एक अस्पताल में भेजा गया। वहाँ पर आश्रम के एक संन्यासी योग की कक्षा ले रहे थे। सेना अधिकारी को योग के बारे में जानने की रुचि हुई। उन्होंने पूछा कि मेरे जीवन में ऐसी घटना हुई है, इसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ। संन्यासी ने कहा कि सबसे पहले आप योगनिद्रा का अभ्यास कीजिए, और फिर दो प्राणायामों का अभ्यास कीजिए। उन्होंने देखा कि योगनिद्रा के अभ्यास से बहुत जल्दी स्वास्थ्य लाभ होने लगा, और कुछ ही समय पश्चात् वे अस्पताल से छुट्टी पाकर पुन: अपने काम पर आ गए।

जब हृदयाघात होता है तो ई.सी.जी. में उसके चिह्न दिखलायी पड़ते हैं। लेकिन उनके जितने ई.सी.जी. लिए गए, किसी में भी इस हृदयाघात के चिह्न दिखलायी नहीं दिए थे। इतना ही नहीं, वे अब तक छ: हृदयाघात झेल चुके हैं। ऐसी मान्यता है कि तीसरे के बाद आदमी जीवित नहीं रहता। वे कहते हैं कि मेरे जीवित रहने का पूरा श्रेय योगनिद्रा को जाता है, और मुझमें इतना आत्मविश्वास आ गया है कि छ: तो क्या, अगर मुझे छ: सौ हृदयाघात भी हो जाएँ तो मैं जीवित रहूँगा।

उनके जीवन में योगनिद्रा की प्रत्यक्ष करामात हमलोगों को दिखलायी देती है। समझ में नहीं आता, लेकिन चिन्तन से इतना अन्दाज तो जरूर लगता है कि जैसे-जैसे हम अपने आन्तरिक अंगों को, आन्तरिक कार्य-प्रणाली को तनावमुक्त करते हैं, और उनमें सुधार होता है, वैसे-वैसे उनकी क्षमता, उनकी शक्ति में वृद्धि होती है। और यह जो असन्तुलन की स्थिति है शरीर की, जिसका एक प्रमाण है उच्च रक्तचाप, वह दूर होने लगती है।

इन समस्याओं के निदान के लिए दो और अभ्यास बहुत उपयोगी हैं। पहला, भ्रामरी प्राणायाम, कानों को बन्द कर गुंजन की आवाज करना। दूसरा, उज्जायी प्राणायाम। जिस प्रकार से एक छोटा बच्चा गहरी निद्रा की अवस्था में गहरी श्वास खींचता है, ठीक उसी प्रकार उज्जायी प्राणायाम में श्वास में उत्पन्न आवाज पर ध्यान को केन्द्रित किया जाता है।

तीसरा प्रश्न था चर्म रोग के सम्बन्ध में। इस सम्बन्ध में प्रयोग तो होते रहते हैं, और देखने में आता है कि कुछ लोग यौगिक प्रयोगों से ठीक भी हो जाते हैं। जब आहार संयम हो जाए, शरीर शुद्ध हो जाए, शरीर में जो विषाक्त तत्त्व जमा हो जाते हैं, उन्हें अगर हम षट्कर्मों के अभ्यास से बाहर निकाल दें, तो चर्म रोग ठीक होने लगता है। जब अपने शरीर में उत्पन्न दवाई को हम किसी प्रकार के चर्म रोग में लगाते हैं तो उससे अत्यधिक लाभ होता है। हमारे शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाली दवाई का नाम है अमरोली या शिवाम्बु-कल्प।

अनिद्रा के उपचार के लिए योगनिद्रा का अभ्यास करना चाहिए। साथ-साथ एक बात और ध्यान में रखना कि जब बिस्तर में जाते हो तो अपने झंझटों को साथ लेकर मत जाना। अपने झंझटों और परेशानियों को बिस्तर में लेकर जाओगे तो वे तुम्हारे मन को विचलित कर देंगी, और एक बार मन विचलित हो उठे तो निद्रा ठीक ढंग से नहीं आती। आपने तो अपने जीवन में अनुभव किया होगा कि रात्रि के समय जब कभी तेजी से और बहुत प्रबलता से विचार उत्पन्न होते हैं तो नींद गायब हो जाती है। बहुत देर तक हम मात्र करवट बदलते रहते हैं। यह मानसिक विचलन की अवस्था है। इसलिए जब हम रात्रि को सोने के लिए जाते हैं, तो उस समय इतना प्रयास अवश्य रहे कि हम किसी ऐसे विचार को अपने साथ लेकर न जाएँ, जिससे हमारा मन विचलित हो जाए। मन को विचलित करने वाले विचार होते हैं घरेलू झंझट, कार्य-क्षेत्र के झंझट इत्यादि-इत्यादि।

अगर आप निद्रा के समय बिस्तर में लेटकर योगनिद्रा का अभ्यास करें, तो मन को स्वत: दूसरी तरफ मोड़ पायेंगे। मन को विचलित होने से रोककर एक प्रक्रिया में केन्द्रित कर देने से, एक प्रक्रिया में स्वयं को रमाने से, स्वयं को अन्तर्मुखी बना देने से निद्रा अवश्य आती है।

एक बार दक्षिण अमेरिका में हमारे पास एक आदमी आया और कहने लगा कि स्वामीजी, पिछले छ:-सात सालों से अनिद्रा से पीड़ित हूँ। बिल्कुल सो नहीं पाता हूँ। प्रशान्तक दवाइयाँ लेता हूँ, नींद की गोलियाँ लेता हूँ, लेकिन नींद नहीं आती। मानसिक विखण्डता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, मैं क्या करूँ? हमने कहा कि आप योगनिद्रा में सोइये। हम आपको करा देते हैं।

हमने उस व्यक्ति को डेढ़ घंटे तक योगनिद्रा करायी। पहले दिन तो कुछ नहीं हुआ। हमने कहा फिर आना। दूसरे दिन भी हमने उसे डेढ़ घंटे तक योगनिद्रा करायी, और उस समय वह जो सोया तो पूरे सत्रह घंटे बाद उठा।

उसने कहा कि इतनी अच्छी नींद मुझे जिन्दगी में पहले कभी नहीं आयी थी। तो अनिद्रा के लिए भी योगनिद्रा का अभ्यास उपयोगी है, क्योंकि इसके माध्यम से हम अपने मन को विचलित होने से रोक कर, उसे केन्द्रित करके विश्राम की स्थिति में ले आते हैं।

कल के प्रवचन में आपका उद्‌बोधन था कि हमें किसी से प्रभावित नहीं होना चाहिए। यदि समस्त श्रोतागण आपसे प्रभावित नहीं होते तो आज सारा पण्डाल खाली होता।

नहीं, ऐसी बात नहीं। यहाँ पर प्रभावित का अर्थ दूसरा है। प्रभावित का अर्थ होता है राग की स्थिति। जिस प्रभाव के बारे में हम लोग कल चर्चा कर रहे थे, वह था नकारात्मक प्रभाव। अगर हम आपको कहें कि यह व्यक्ति बहुत अच्छा है तो आप उस पर ज्यादा ध्यान नहीं देंगे। लेकिन अगर हम आपको कहें कि यह बुरा व्यक्ति है तो आप ध्यान से उसे देखेंगे। व्यक्ति वही है। शब्द दो हैं, अच्छा और बुरा। जब हमने कहा कि यह अच्छा व्यक्ति है तो आपने उसे गौर से नहीं देखा। आपने सोचा, होगा अच्छा, क्या मालूम। लेकिन जब हम कहते हैं कि यह बुरा व्यक्ति है तो आप सावधान हो जाते हैं; क्या बुराई है इसमें, चलो पता लगाएँ। यह है नकारात्मक प्रभाव। जीवन की परिस्थितियों में हमेशा इस प्रकार के प्रभावों को हम देखते हैं। इनसे विचलित न हों, और ऐसी परिस्थितियों से अप्रभावित रहना ताकि आन्तरिक सन्तुलन, मानसिक सन्तुलन, व्यावहारिक सन्तुलन बना रहे, यह जीवन में अप्रभावित रहने का वास्तविक अर्थ है।

योगासन के समय क्या इष्ट का जप किया जा सकता है? ध्यान के समय विचित्र संकेत मिलते हैं जो सत्य भी होते हैं।

योग शास्त्रों में अनेक विधियाँ बतलायी गयी हैं, जिनके द्वारा हम आसन करते समय स्वयं को अपने शरीर के भीतर केन्द्रित कर सकें, क्योंकि आसनों का अभ्यास यंत्रवत् नहीं करना चाहिए। यंत्रवत् तो हम अपने शरीर को दिनभर हिलाते रहते हैं। यंत्रवत् हम पलके खोलते-बन्द करते रहते हैं, श्वास लेते हैं। अनेक प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ यंत्रवत् होती रहती हैं। अभी मैं जो बोल रहा हूँ, वह भी यंत्रवत् ही बोल रहा हूँ। सोचकर नहीं बोल रहा हूँ कि मुझे यह बोलना है।

लेकिन आसनों के अभ्यास में, जहाँ सजगता की वृद्धि चाहिए, उस समय यंत्रवत् अवस्था को अलग करना पड़ता है। जहाँ पर सजगता हो, सतर्कता हो वहाँ पर यंत्रवत् क्रिया समाप्त होनी चाहिए। आसनों की पहली शर्त यही है कि हम अपनी शारीरिक अवस्था के प्रति जागरूक रहें।

जब आप अपनी अवस्था के बारे में जागरूक हो जाते हैं, जब आपको अपने शरीर का ज्ञान होने लगता है, तब फिर आप आसनों से अपने मन को अलग कर सकते हैं। लेकिन प्रारम्भ में मन और शारीरिक स्थिति, दोनों एक होने चाहिए। तभी आसन सिद्ध होता है।

आसन की परिभाषा है– *'स्थिरं सुखं आसनम्।'* स्थिरता और सुखद अवस्था तक आने के लिए आसनों के विभिन्न अंग हैं। पहले केवल गत्यात्मक आसन होते हैं, ताकि हमारा शरीर लचीला हो जाए। उसके बाद दूसरे प्रकार के आसन होते हैं, ताकि हमारी आन्तरिक अव्यवस्था दूर हो जाए, रोग दूर हो जाएँ। उसके बाद तीसरी अवस्था आती है, जब हम अपने शरीर का अवलोकन करके स्वयं को स्थिर बनाने का प्रयत्न करते हैं। और लम्बी अवधि तक उस स्थिरता को धारण करने का प्रयत्न करते हैं।

योग शास्त्र के अनुसार आसनों का प्रयोजन होता है आपको ध्यानावस्था में प्रवेश कराना। अगर हम ध्यान कर रहे हों और घुटनों में दर्द होने लगे तो हमारा ध्यान टूट जाएगा न? दर्द की तरफ ध्यान चला जाएगा। अगर आप योग शास्त्रों का अध्ययन करें, चाहे हठयोग प्रदीपिका हो, घेरण्ड संहिता हो, या अन्य कोई शास्त्रीय पारम्परिक ग्रंथ हो, उनमें बतलाया गया है कि योगाभ्यास को किस अवस्था में, किस परिसर में करना चाहिए। योगाभ्यास करते समय वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए। योगाभ्यास बन्द कमरे में नहीं करना चाहिए। हवा का प्रवाह हो, लेकिन एकदम खुले स्थान में भी नहीं करना चाहिए, जहाँ पर हवा का झोंका लग जाए। इस प्रकार अनेक नियम हैं। आसन का भी एक नियम है, आसन सही होना चाहिए। लेकिन सही स्थिति तक आने के लिए, अपने आपको, मन को, चित्त को शारीरिक स्थिति के साथ जोड़ने के लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं को अपनाना पड़ता है। और इसको कहते हैं शरीर और मन का समन्वय, जिससे संवेदनशीलता की वृद्धि होती है।

इन प्रक्रियाओं में से एक है आसन करते समय श्वास पर ध्यान करना। दूसरी प्रक्रिया है जिस आसन में जो चक्र प्रभावित होता है उस पर ध्यान

करना। तीसरी प्रक्रिया है आसन में मंत्र जप करना। साधक की क्षमता के अनुसार इस प्रकार के अन्य तरीके भी बतलाए जाते हैं।

बहुत ही विरले लोग होते हैं जो इस बात को स्वीकार करेंगे कि हम आत्मज्ञानी हैं, और बहुत ही विरले लोग होते हैं इस जो बात को स्वीकार करेंगे कि हम एक गुरु हैं। ऐसा क्यों?

देखिए, चेतना की आध्यात्मिक अवस्था एक दूसरे प्रकार की होती है, जो सामान्य चेतना से अलग है, उसके विपरीत है। सामान्य चेतना में तो हम अपना प्रमाण-पत्र पेश करते हैं कि देखो, मैं डॉक्टर बन गया, इंजीनियर बन गया। यह बन गया, वह बन गया। इसमें हमको चाहिए पहचान या मान। यह है सामान्य चेतना। और योगियों का प्रयास रहता है कि हम सामान्य चेतना से परे हटकर, उस परम चेतना में अपने आपको केन्द्रित कर दें। तो परम चेतना के प्रमाण-पत्र को बतलाने से फायदा क्या कि हमने प्राप्त कर लिया, क्योंकि वह तो परम चेतना के सिद्धान्त के विरुद्ध है। और आत्मज्ञान है क्या? विवेकपूर्ण आत्माभिव्यक्ति आत्मज्ञान है। इससे बढ़कर दूसरा आत्मज्ञान नहीं। और अगर हम कहें कि हमने अनुभव कर लिया है, हम आत्मज्ञानी हो गए हैं, तो उस विचारधारा में घमण्ड ही झलकता है कि मैंने यह कर लिया। और जहाँ पर 'मैंने यह किया' का घमण्ड दिखाई देने लगता है, वहाँ पर फिर आत्मज्ञान नहीं रहता।

एक कहानी है। एक गुरु नदी के किनारे सत्संग दिया करते थे। उन्हें सुनने के लिए अच्छे-अच्छे विद्वान् दूर-दूर से आते थे। एक शिष्य जो नदी के उस पार रहता था, उसके मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि इतने बड़े गुरुजी आए हैं, मैं भी उनके सत्संग से लाभ उठाऊँ। लेकिन जब वह नदी के किनारे पहुँचा तो वहाँ पर नाव नहीं थी। अब वह कैसे नदी पार करे? उसने सोचा, ठीक है, बन्दूक से निकली गोली वापस नहीं जाती बन्दूक में। मैं एक संकल्प लेकर निकला हूँ कि गुरुजी का सत्संग सुनना है, और अगर वास्तव में मेरे भीतर यह इच्छा है, तो गुरु नाम ही सहारा। और 'जय गुरुदेव, जय गुरुदेव, जय गुरुदेव' कहते-कहते वह नदी पार कर गया।

वहाँ गुरुजी ने पूछा, 'कैसे आए?'

'नदी पार करके आया हूँ।'

'केवट तो यहाँ सत्संग में बैठा है। तुम कैसे आए?'

'आपके नाम की महिमा है।'

'अच्छा, मेरे नाम की महिमा है। कैसे?'

'मैं तो केवल जय गुरुदेव, जय गुरुदेव, जय गुरुदेव कहते-कहते नदी पार कर आपके पास आ गया हूँ। भगवान् का नाम जपते हैं तो संसार-सागर को पार करते हैं, आपका नाम जपा तो इस छोटी-सी नदी को पार कर आया।'

गुरुजी ने कहा, 'वाह! हमारे नाम का इतना प्रताप। हम भी प्रयोग कर लें।' वे भी पहुँचे नदी के किनारे, और 'वाह रे मैं गुरुदेव, वाह रे मैं गुरुदेव, वाह रे मैं गुरुदेव' कहते-कहते नदी में उतर गए। और तीन कदम जाने के बाद सीधा पानी के अन्दर!

तो देखिए, अध्यात्म जगत् में हृदय की सरलता होनी चाहिए, बुद्धि का घमण्ड नहीं। इस बात को आप याद रख लीजिए। और दूसरी बात यह भी है कि अगर हम आत्मज्ञान को पूर्णता की स्थिति मानते हैं, तो पूर्णता की परिभाषा क्या होगी? अगर आप पूर्ण को परिभाषित कर देते हैं, तो पूर्ण पूर्ण नहीं रहता। और जिस चीज को हम परिभाषित नहीं कर सकते, जिस मार्ग पर हम अनवरत एक साधक की तरह, एक शिष्य की तरह चलते रहें, वह मार्ग तो अनन्त है। 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।' वह हरि, वह कल्याणकारी मार्ग अनन्त है, और वही पूर्ण है। पूर्ण मतलब जिसका न अन्त हो न आरम्भ।

ईशावास्य उपनिषद्, जो यजुर्वेद की चालीसवीं संहिता है, के शान्ति मन्त्रों में यही बतलाया गया है –

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाविशष्यते ॥

अगर पूर्ण से पूर्ण को हटा दें, तो क्या शेष रहेगा? पूर्ण ही शेष रहेगा। इसलिए पूर्णता या आत्मज्ञान एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसको बतलाया नहीं जाता, अनुभव किया जाता है। और जो व्यक्ति इस बात को समझता है, वह जीवनभर गुरु नहीं साधक ही रहता है। जहाँ पर गुरुत्व का अभिमान आ जाए, वहाँ पर साधक का पतन होता है। और जहाँ पर बाल-सुलभ चंचलता साधक के जीवन में रहे, वह अनन्त मार्ग में आगे बढ़ता रहता है।

दैनिक जीवन किस प्रकार का होना चाहिए? जब-तब कुछ खाने की इच्छा होती है, चाहे भूख न लगी हो। इसके लिए क्या करना चाहिए?

बहुत अच्छा व्यावहारिक प्रश्न है। हर व्यक्ति के दैनिक जीवन का अपना-अपना रूप होता है। हर व्यक्ति अलग-अलग प्रकार से कार्य करता है, और कार्य के अनुरूप दैनिक जीवन में एक नियम बनाना पड़ता है। सामान्य नियम तो हम लोग जानते ही हैं कि सबेरे इतने समय उठना, इतने समय काम पर जाना, इतने समय भोजन करना, इतने समय घर लौटना, इतने समय सोना है। लेकिन दैनिक जीवन अनुशासित होना चाहिए, इस बात का ख्याल रखना।

योग सूत्रों में प्रथम सूत्र है– *'अथ योगानुशासनम्'*। इसमें मुख्य शब्द है अनुशासन। अनुशासन का अर्थ क्या होता है? अनुशासन शब्द दो शब्दों से बना है- अनु + शासन। एक शब्द तो है शासन करना। शासन आदमी कब करता है? जब उसका नियन्त्रण रहे तभी न? एक राज्य का शासक शासन तभी कर पाएगा जब राज्य के बारे में उसको पूरी जानकारी रहेगी, जब राज्य में घटती हुई घटनाओं पर उसका पूरा नियन्त्रण रहेगा। और अगर नियन्त्रण नहीं है तो राज्य में मात्र अराजकता ही रहेगी।

'अनु' शब्द सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्था का बोधक है। तो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्था पर जब नियन्त्रण रहे, तब उसे कहते हैं योग। इसीलिए महर्षि पतंजलि योग की परिभाषा में कहते हैं कि योग सूक्ष्म चेतना को प्राप्त करने का एक तरीका है। और इस सूक्ष्म चेतना का अर्थ होता है पूर्ण आत्मनियन्त्रण, पूर्ण आत्म-सजगता। अगर हम इस तरीके से योग को अपने जीवन में अपनाते हैं, तो सर्वप्रथम दिनचर्या में अपने लिए कुछ समय निर्धारित करना होगा, जिसमें हम अपने आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न कर सकें।

तेईस घंटे संसार के निमित्त और एक घंटा हमारे ईश्वर का। इतना पहले कर दो, तेईस घंटे संसार को और एक घंटा ईश्वर को दे दो। यह एक परिवर्तन है दिनचर्या में। दूसरा परिवर्तन होना चाहिए आहार-संयम। इच्छाओं को रोको। अगर यह जानते हुए भी कि मेरे लिए खराब है, अनुचित है, अपनी इच्छाओं को नहीं रोक सकते, तो फायदा क्या? इच्छाओं को रोकना आत्मशक्ति का द्योतक है, विशेषकर वे इच्छाएँ जिनसे हम स्वयं को हानि पहुँचाते हैं। एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ। लोग बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। छोड़ने की इच्छा होती है। कहते हैं, आज से मैं नहीं पीऊँगा। लेकिन तसल्ली के लिए सिगरेट को जेब में रखकर घूमते हैं कि अगर जरूरत पड़े तो मेरे पास है, एक चुस्की लगा लूँगा। और बहुत बार क्या होता है, सोचते हैं, मैंने तो

संकल्प ले लिया है कि आज से सिगरेट नहीं पीऊँगा, लेकिन रोज तो मैं दस पीता था, आज एक पी लूँ तो हर्ज क्या है। नौ तो नहीं पी रहा हूँ।

यह तो इच्छा है न? सिगरेट पीने की इच्छा, जो बाद में आदत बन गई। और बाद में हम उसी आदत से लाचार हो जाते हैं। इच्छा आदत बनती है, आदत से लाचारी होती है, और लाचारी से फिर शरीर रोगी होता है। इतनी ही बात नहीं, सिगरेट के हर पैकेट के ऊपर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। उसे पढ़ते है, लेकिन सोचते हैं कि डॉक्टर हमें डराने के लिए ऐसा लिख देते हैं, इससे कुछ नुकसान होता नहीं है। पी लो जितनी पीनी है।

ज्ञान रहते हुए भी अगर हम अज्ञानी बन जाएँ तो जीवन परिवर्तित नहीं हो सकता। मैं सीधी बात बोल रहा हूँ आपको। इसलिए यह निश्चित कर लो कि अज्ञान को दूरकर ज्ञान को लाना है। ज्ञान को रखते हुए अज्ञान बतलाना, यह एक सामान्य व्यक्ति करता है। लेकिन अज्ञान को दूर करके ज्ञान को अपने जीवन में स्थान देना, यह एक सच्चा व्यक्ति करता है। और अगर हमारे जीवन में इतना संयम हो जाए तो जीवन बदलने की आवश्यकता नहीं, जीवन बदला हुआ समझो। जीवन इसी प्रकार का होना चाहिए।

ऐसी कौन-सी योग क्रिया है, जिसके द्वारा मैं अपने पूर्वजन्म की अवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकता हूँ कि पूर्व जन्म में मैं क्या था, कहाँ था, कौन था, क्या कर रहा था, इत्यादि-इत्यादि।

पहले तो यह समझ लीजिए कि इस जन्म में आप कहाँ पर हैं, क्योंकि आपके प्रश्न से लगता है कि आप वर्तमान में नहीं, भूतकाल में हैं। हमारा मत है कि मनुष्य भूतकाल में जीता है, वर्तमान में रोता है, और उज्जवल भविष्य की कामना करता है। लेकिन वह कभी प्रयास नहीं करता कि मेरा वर्तमान ठीक हो जाए। अगर उसे दुःख होता है, क्लेश होता है, अप्रसन्नता होती है तो उसका कारण भूतकाल में घटी घटना होती है। वर्तमान का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

योग कहता है वर्तमान में जीओ। भूतकाल तो बीत गया। वह अतीत है। अतीत की स्मृति को अगर पकड़े बैठोगे तो वर्तमान को कैसे सुधारोगे? अतीत से ज्ञान को ग्रहण करो, वर्तमान को सुधारो, और भविष्य की चिन्ता मत करो, क्योंकि जब तुम्हारा वर्तमान सुधरेगा, भविष्य सुधरा हुआ समझो।

इसलिए जीओ तो मात्र वर्तमान में जीओ। हाँ, इतना हम जरूर कहेंगे कि साधना के दौरान, ध्यान के दौरान कभी-कभी जब चेतना सूक्ष्म हो जाती है, तो यह व्यक्तिगत चेतना ब्रह्माण्डीय चेतना से सम्पर्क कर बैठती है। और जब उस ब्रह्माण्डीय चेतना से सम्पर्क होता है, तब अनेक घटनाएँ हमारे मानस पटल पर आने लगती हैं। अनेक दृश्य मानस पटल पर दिखलायी देने लगते हैं, और अगर उस समय ज्ञान रहे तो मालूम पड़ता है कि यह पूर्वजन्म की कोई घटना थी, या भविष्य में होने वाली घटना का संकेत है।

क्या आयु मनुष्य के जन्म लेते ही निर्धारित रहती है? मनुष्य के जीवन में आयु बढ़ने-घटने का क्रम भी ईश्वर प्रदत्त है?

इसका एक ही उत्तर है। आयु बढ़ाना ईश्वर का काम है, और घटाना मनुष्य का। भगवान् तो कभी नहीं चाहते कि हम कम जिन्दगी जीएँ। *जीवेम शरद: शतम्*– सौ साल की जिन्दगी तो कम-से-कम होनी चाहिए, लेकिन आज विज्ञान बतलाता है कि हमारी जो अव्यवस्थित जीवन-पद्धति है, जो आदतें हैं, जो विचार और कर्म हैं, वे हमारी आयु को धीरे-धीरे कम करते जा रहे हैं, और इतना ही नहीं, आज का जो सामाजिक परिवेश है, उसमें हवा में प्रदूषण है, जल में प्रदूषण है, खाद्यान्न में प्रदूषण है, चावल में संगमरमर के टुकड़े मिलते हैं, सब कुछ प्रदूषित है। और यह प्रदूषण हमारे भीतर जाकर हमारी क्षमता को नष्ट करता है। हम तो अपने आपको ही मार रहे हें। सिगरेट पीते हैं। धुँआ क्या फेफड़ों में जाने के लिए है? अल्कोहल पीते हैं। अल्कोहल क्या पेट के लिए बनाया गया है? क्या भगवान् ने बनाया है? नहीं।

हर व्यक्ति की आयु अवश्य ईश्वर प्रदत्त है। प्रभु कभी हमारा अहित नहीं सोचते। और अगर हम कुछ करते हैं अपनी आयु को घटाने के लिए, तो वह हमारी ही करतूत है, ईश्वर की नहीं। अगर आप अपने जीवन को ठीक कर लेंगे तो आयु अवश्य बढ़ेगी।

ध्यान योग

ध्यान एक ऐसी स्थिति है, अनुभूति है जो किसी की समझ में आती नहीं है, लेकिन हर व्यक्ति इसे करना चाहता है। हर व्यक्ति ध्यान की अवस्था में एक उच्च अनुभव को प्राप्त करना चाहता है, और उसके लिए प्रयास भी करता है। अपने साथ हठ भी करता है। बहुत लोग आते हैं, कहते हैं, 'स्वामीजी, हम ध्यान तो इतने सालों से कर रहे हैं। लेकिन हमारा मन एकाग्र नहीं होता, चंचलता बहुत रहती है, हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं, क्या करें? कुछ उपाय बतलाइए।'

अगर ऐसे व्यक्तियों से पूछा जाए कि आप किस प्रकार का ध्यान करते हैं, तो कहते हैं, 'हम बैठकर मन को विचार-शून्य बनाने और अपने इष्ट में लगाने का प्रयास करते हैं, लेकिन लगता नहीं, कभी इधर की बात याद आती है, कभी उधर की। समझ में नहीं आता कि हमारी प्रगति क्यों नहीं हो रही है।'

ये विचार साधकों के ही नहीं, बल्कि उन सभी प्राणियों के हैं जिन्होंने एक बार ही सही, अपने जीवन में ध्यान का प्रयास किया है। लोग ध्यान का अर्थ लगाते हैं, अपने मन को किसी एक बिन्दु में केन्द्रित कर देना। लेकिन वास्तव में यह ध्यान की अवस्था नहीं है। न यह ध्यान की प्रक्रिया है। न ही इस प्रकार का प्रयास ध्यान की परिभाषा के समीप आता है। बहुत बार कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम अपने आपको समझो, और जब समझोगे तभी मन केन्द्रित होगा, एकाग्र होगा। तैरना तो सीखा नहीं है, लेकिन पानी में कूद पड़े हैं तैरने के लिए, और हाथ-पैर मारने को तैरना कह देते हैं। और जब थोड़ी गहराई में जाते हैं तो डूबने लगते हैं, फिर चिल्लाते हैं, 'हाय! बचाओ!' यह तैराकी नहीं है।

चेतना का व्यापक स्वरूप

ध्यान के विषय में योगशास्त्र कहता है कि जिस प्रकार एक शुद्ध स्फटिक को जिस किसी रंग के वस्त्र के ऊपर रख देते हैं, उसमें वही रंग दिखलायी देता है, ठीक इसी प्रकार की स्थिति ध्यान में मनुष्य को प्राप्त होती है। योग दर्शन में कितना सुन्दर उदाहरण दिया गया है – स्वच्छ, परिशुद्ध, पारदर्शक स्फटिक। जब आप ध्यान करते हैं तो आपके मन में क्या इसी प्रकार की स्पष्टता रहती है? नहीं। ध्यान की प्रथम अवस्था में यह प्रयत्न होना चाहिए कि हमारा मन स्फटिक की तरह शुद्ध हो जाए, निर्मल हो जाए, दोषरहित हो जाए। और जब मन दोषरहित हो जाता है तभी ध्यान लगता है, उसके पहले नहीं।

एक उदाहरण देता हूँ। वेदों में कहा गया है – *'खं ब्रह्म'*। इसका अर्थ होता है कि आकाश ब्रह्म है। आकाश को ब्रह्म-रूप क्यों माना गया? इसलिए कि आकाश ही पंच महाभूतों में एक ऐसा महाभूत है, एक ऐसा तत्त्व है जिसमें अन्य सभी तत्त्वों का विस्तार संभव है। अगर आकाश का अभाव हो जाए तो सृष्टि में किसी तत्त्व का विस्तार नहीं होगा। आप पूछेंगे, इसका प्रमाण क्या है? इसी बिल्डिंग को देख लीजिए, इसका विस्तार कहाँ हुआ है? पृथ्वी पर तो उत्पन्न हुआ, लेकिन विस्तार हुआ है आकाश में। सृष्टि के चाहे किसी रूप को देख लीजिए, आप देखेंगे कि सभी रूपों का विस्तार आकाश में ही होता है। आकाश ही एक ऐसा तत्त्व है जिसमें सभी भूत, सभी तत्त्व समाए हुए हैं। यह विशाल, व्यापक, अव्यक्त, निराकार है। इसका कोई स्वरूप नहीं होता, इसकी कोई सीमा नहीं होती। इसे ही ब्रह्म माना गया है। वायु भी आकाश में अनुभव की जाती है। अग्नि के ताप का अनुभव आकाश में ही होता है, और पृथ्वी भी इस आकाश के एक अंग के रूप में दिखलायी देती है।

अब इसी वर्णन की तुलना आप अपनी चेतना से कीजिए। देखिए कि आपकी चेतना भी इस आकाश की तरह व्यापक, विशाल और निर्विकार है। चेतना में किसी प्रकार के गुण-दोष नहीं होते। यह तो मात्र एक ऐसी स्थिति है, एक ऐसी अवस्था है, एक ऐसी शक्ति है जहाँ पर व्यक्त अवस्थाओं की सम्भावना निहित है। चेतना में किसका विस्तार होता है? महत् तत्त्व का। महत् तत्त्व क्या है? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन्हें 'मन: चतुष्टय' कहते हैं। 'मन: चतुष्टय' के भीतर अनेक प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें चेतना की स्थिरता को प्रभावित करती हैं। जब ये तरंगें उठती हैं, जब इनके साथ विषयों की धूल उड़ती है, तब वही स्थिर, अचल, विशाल आकाश धुँधला

दिखलायी देता है। लेकिन आकाश तत्त्व, चेतन तत्त्व विषयों की इस धूलि से, बुद्धि-विलास के भवन से प्रभावित नहीं होता। ये सब बनते हैं, बिगड़ते हैं। कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, समाप्त होती हैं। अहंकार उत्पन्न होता है, समाप्त होता है। यह क्रम तो अनादि काल से चला आ रहा है।

ध्यान की अवस्था में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का अनुभव नहीं होता। इस अवस्था में एक ही अनुभव को प्राप्त करने के लिए पहले प्रयत्न किया जाता है कि हमारा मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि शान्त एवं निर्मल हो जाए। इस मन: चतुष्टय को शान्त और निर्मल करने के लिए, इनके भीतर उत्पन्न उद्विग्नता को समाप्त करने के लिए अन्य प्रकार के अभ्यासों को करना पड़ता है, लेकिन सामान्य रूप से हम कह देते हैं कि हम ध्यान कर रहे हैं।

स्वयं से समझौता

ध्यान तो एक ऐसी अनुभूति है, जिसे आज तक हममें से किसी ने प्राप्त नहीं किया है। यह तो एक ऐसी अवस्था है जिसे हम अपनी भौतिक मानसिकता के साथ प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि हमने सर्वप्रथम अपने से समझौता नहीं किया है। जब आप मन्त्र जप में, या अपने इष्ट में स्वयं को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, तो इसके पूर्व क्या अपने आपसे समझौता किया है कभी? नहीं। और समझौता न करने से क्या होता है? आन्तरिक विरोध एवं दमन होता है, अवरोध उत्पन्न होते हैं। जब मानसिक अवस्था में विरोध हो रहा है, अवरोध उत्पन्न हो रहे हैं, तब उसे हम ध्यान किस प्रकार से मानें? आप घण्टों आँख बन्द करके बैठ सकते हैं, अपने को भूल सकते हैं, भौतिक जगत् से अपनी चेतना को हटा सकते हैं, लेकिन वह ध्यान की अवस्था नहीं कहलाती, क्योंकि अभी तक संघर्ष, विरोध और दमन की प्रक्रिया चल रही है।

गुरुजी एक जंगली घोड़े की कहानी सुनाया करते थे। आपने कभी किसी जंगली घोड़े पर बैठने का प्रयास किया है! एक बार चढ़ कर देखिए क्या होता है? लगाम लगाने का प्रयत्न कीजिए, क्या होता है? मालूम पड़ेगा वह तो अनुशासित नहीं है। अगर घोड़े पर सवारी करनी हो तो पहले घोड़े से मित्रता करनी होती है, उसके समीप जाना पड़ता है, उससे एक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, ताकि वह आपको पहचाने कि आप कौन हैं। और आप उस घोड़े के रूप को जान सकें कि उसकी चाल किस प्रकार की है, स्वभाव किस प्रकार का है। जब दोनों में आत्मीयता हो जाती है, तभी ध्यान प्रारम्भ होता है, उसके पहले नहीं।

देखिए, दो अवस्थाएँ हैं। एक है सामीप्य की और दूसरी है सायुज्य की। सामीप्य का अर्थ होता है नजदीक आना, और सायुज्य का अर्थ होता है एक हो जाना। आपने देखा ही होगा कि जब बरसात के दिनों में हम दीया या बत्ती जलाते हैं तो बहुत-से कीट-पतंगे उसके समीप आकर उस पर मंडराने लगते हैं, और कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो उसके प्रकाश की ओर आकृष्ट होकर उसमें जलकर मर जाते हैं। प्रकाश की ओर जो आकर्षण है उसे कहते हैं सामीप्य, और उस प्रकाश में जलकर नष्ट होना, उस प्रकाश से एक हो जाना, वह है सायुज्य। आपने सामीप्य को प्राप्त करने की कोशिश भी नहीं की, और चाहते हैं सायुज्य! इसीलिए तो कोई ध्यान नहीं कर पाता। एक बात और ध्यान में रखिए कि ध्यान कभी अद्वैत नहीं होता, कभी नहीं।

ध्यान की शुरुआत होती है त्रैत से, फिर इसकी परिणति होती है द्वैत में, और फिर अद्वैत में। त्रैत, द्वैत और अद्वैत – यह ध्यान की प्रक्रिया है। अगर आप सोचें कि ध्यान करने से सीधे ईश्वर के पास पहुँच जाएँगे, तो सम्भव नहीं है। यह आप स्वयं को धोखा दे रहे हैं, और अपना समय नष्ट कर रहे हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में ध्यान को सातवें अंग के रूप में माना। अगर ध्यान इतना सहज होता, तो सबसे पहले उसे ही रख देते। अष्टांग योग की आवश्यकता ही नहीं होती। दो अंगों से ही काम चल जाता – ध्यान और समाधि।

ध्यान और समाधि की आवश्यकता नहीं होती, अगर हम समझौता कर आए होते इस संसार में अपने साथ, अगर हमें यह जानकारी होती कि हमें संघर्ष नहीं, विरोध नहीं, बल्कि समझौता करना है। और यह समझौता होता किस प्रकार का है? समझौते की प्रक्रिया है – प्रत्याहार और धारणा। प्रत्याहार का अर्थ होता है अपने को समेटना। हमारे जीवन की जो बहिर्मुखता है, उसे एक बिन्दु की ओर लाना। हमारे जीवन की जो छिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, उन्हें समेट कर एक बिन्दु में केन्द्रित करना। यह कैसे होता है? आँखों को बन्द करके विचारों को देखने से, बाहर की ध्वनियों से अपने मन को हटाने से।

प्रत्याहार, धारणा और ध्यान

प्रत्याहार के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है कि जिस प्रकार कछुआ अपने कवच के भीतर सभी अंगों को समेटता है, ठीक उसी प्रकार हमें भी अपनी चेतना के कवच के भीतर इन्द्रियों को खींचना है। चेतना से इन्द्रियों

का विस्तार हुआ है कर्मेन्द्रियों के रूप में, ज्ञानेन्द्रियों के रूप में। चेतना से मन का विस्तार हुआ है मन:चतुष्टय के रूप में। अब जो विस्तार हो चुका है, उसे वापस लाना है कवच के भीतर। और कवच के भीतर लाने का अर्थ एकाग्रता नहीं है। एक उदाहरण देता हूँ – यदि बिस्तर छोटा है तो हम उसमें किस प्रकार सोएँगे? अपने शरीर को समेट कर सोएँगे, या फैलाकर? अगर फैला कर सोएँगे, तो क्या होगा? न इधर के रहेंगे न उधर के, सन्तुलन नहीं रहेगा। अगर 2 x 4 फुट के बिस्तर में छ: फुट का आदमी सोना चाहे तो उसे अपने अंगों को समेट कर सोना पड़ेगा।

समेट कर सीमा के अन्दर लाने की जो प्रक्रिया है, उसे प्रत्याहार कहते हैं। इन्द्रियों को चेतना की व्यापक सीमा में ले आना, जहाँ पर उनकी बहिर्मुखता और चंचलता पूर्णरूपेण समाप्त हो जाए, और वे एक अनुशासित, नियमबद्ध ढंग से इस सीमा के अन्दर अपना कार्य करें। जब हम अपनी इन्द्रियों को समेट लेते हैं, तब सन्तुलन की प्राप्ति होती है, चंचलता एवं विक्षिप्तता समाप्त होती है। और जब हमारी आन्तरिक चंचलता समाप्त हो जाती है, तब मन एक बिन्दु में केन्द्रित होने लगता है। एक उदाहरण देता हूँ आपको – मान लीजिए आप एक विशाल बरगद के पेड़ पर चढ़कर उसके पत्तों एवं टहनियों के बीच छुपे हुए हैं, और आपको अब धरातल पर आना है, तो आप क्या करेंगे? प्रयास करेंगे कि टहनियाँ पकड़-पकड़कर उसके तने तक आ जाएँ, और फिर तने का सहारा लेकर नीचे धरातल पर आ जाएँ।

अभी हमलोगों की जो अवस्था है, वह ठीक इसी वृक्ष की तरह है। जीवन की सभी शक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, मन: चतुष्टय बहिर्मुखी है। अब एक-एक को पकड़ कर लाना है, और तने के पास जाना है। तो यह जो तने के पास आने की प्रक्रिया है, इसे कहते हैं प्रत्याहार। और तने को पकड़ कर नीचे उतरने की जो प्रक्रिया है उसे कहते हैं धारणा। और जब धरातल पर आकर एक ठोस भूमि पर खड़े हो जाते हैं तो उसे कहते हैं ध्यान। इसलिए इस बात को याद रखिए कि ध्यान की अवस्था में मन के साथ संघर्ष नहीं होता। सीधी-सी बात है, अगर मन विचलित है तो ध्यान लगेगा ही नहीं। अगर आपके स्फटिक में कोई दूसरा रंग पहले से चढ़ा हुआ है, और आप चाहें कि वह रंग उसमें दिखलाई न दे, मणि एकदम स्वच्छ दिखायी दे, तो वह तो सम्भव है नहीं, क्योंकि हम अपने भौतिक मन को जहाँ ले जाते हैं, वह उसी रंग में रंग जाता है।

हमारे पुराणों में कथाओं के माध्यम से शिक्षा दी गयी है– 'जिस रंग में परमेश्वर राखे उसी रंग में रहना रे बन्दे, उसी रंग में रहना।' खुद का रंग नहीं चढ़ाना। हम लोग तो अपनी वृत्तियों, इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं का रंग चढ़ाने लगते हैं, और ये सब रंग चढ़ाकर कहते हैं कि हम एकदम साफ हैं, तुम आ जाओ। लेकिन यह कभी होता नहीं है। हम एकदम साफ हैं, यह सोचना भ्रामक है। हम पवित्र नहीं, हम निर्मल नहीं, हम शान्त नहीं, हम चैतन्य नहीं। हम चंचल हैं, हमारा मन उत्पाती है, वृत्तियाँ अनियन्त्रित हैं, विचारों पर हमारा नियन्त्रण नहीं, कहीं पर मन लगता नहीं। पूजा करते हैं तो मन जाता है स्टोव की तरफ कि उसमें दूध रखा है। मन्दिर में जाते हैं शीश नवाने के लिए, पर ध्यान रहता है जूते में कि कोई भलामानुस उसे उठाकर न ले जाए। किसी काम से बाहर जाते हैं तो ख्याल बना रहता है कि मैंने अपनी गाड़ी में ताला लगाया है या नहीं। हम स्वयं को एक दिशा नहीं दे पाते।

आत्म-विश्लेषण

योग शास्त्र कहता है कि अगर स्वयं को दिशा देनी है तो सबसे पहले अपने साथ समझौता कर लो। स्वीकार कर लो कि ठीक है, मेरे भीतर कुछ अवगुण हैं। मेरे भीतर ये दोष हैं। मेरे भीतर ये महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, ये इच्छाएँ हैं, ये कमियाँ हैं, ये आवश्यकताएँ हैं। इन्हें एक-एक बार देख लो, जान लो, समझ लो। अपने जीवन की सभी अवस्थाओं को एक बार आँखें खोलकर देख लो और भौतिक आँखों को नहीं, आन्तरिक आँखों को खोलकर देखो। जब तक तुम अपने को नहीं जान सकते, तब तक दूसरों को क्या जानोगे? परमात्मा को क्या जानोगे? क्योंकि जब तक हम अपने को नहीं जानते तब तक सोचते हैं कि परमात्मा हमसे अलग है, दूर है, हमारे बाहर है। लेकिन जिस दिन हम अपने को जान पाते हैं, और तत्पश्चात् स्वयं को केन्द्रित कर पाते हैं, उस दिन परमात्मा साक्षात् प्रकट हो उठते हैं।

इसलिए सबसे पहले आत्म-विश्लेषण, आत्म-निरीक्षण की अवस्था को लाना है। यह काम तो आप बैठे-बैठे भी कर सकते हैं। अगर किसी के साथ बहस हो जाती है, तो वह आपकी प्रतिक्रिया के रूप में होती है। जब आप एकान्त में बैठें, चाय पीने या खाना खाने बैठें, तो एक बार सोच लें कि बहस क्यों हुई; क्योंकि ताली कभी एक हाथ से नहीं बजती। दोष दूसरे का ही नहीं, स्वयं का भी होता है। स्वयं की भी एक प्रतिक्रिया होती है। अगर कोई हमें

पागल कहे, तो क्रोध के रूप में हमारी प्रतिक्रिया व्यक्त होती है। यह प्रतिक्रिया महत् तत्त्व की अशुद्धि के कारण होती है। हो सकता है यह अशुद्धि अहंकार में है, जो घमण्ड के रूप में सामने आ रही है। हो सकता है यह बुद्धि में हो, जिसके कारण हम उस व्यक्ति के विचारों से तालमेल न बैठा पा रहे हों। हमारा विश्लेषण दूसरे व्यक्ति के विश्लेषण से मेल न खा रहा हो, परस्पर विरोध हो रहा हो। यह है महत् तत्त्व की अशुद्धि।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अगर देखा जाए तो एक चीज स्पष्ट रूप से सामने आती है कि हम परिस्थितियों के दास हैं, अपनी उच्चाकांक्षाओं एवं अहंकार के दास हैं। हम इन सभी से प्रभावित होते हैं। मान लीजिए, किसी को हम कहें कि आज तुम्हें प्रवचन देना है, लेकिन अधिक भीड़ के कारण उसका प्रवचन नहीं हो पाता। तो वह कहेगा, 'स्वामीजी ने तो मुझे कहा था कि प्रवचन देना है। देखो, मैंने तैयारी कर ली और मुझे अवसर नहीं मिला।' और बुरा मान बैठेगा। इसमें समझौता हुआ? नहीं हुआ। बल्कि इसमें घमण्ड सामने आ जाता है कि मुझे अवसर नहीं मिला। इस तरह की प्रतिक्रिया तो होती ही है। इसे जानना, इसे देखना, आत्म-विश्लेषण की स्थिति ध्यान में पहला चरण है। यह प्रत्याहार की ही अवस्था है, प्रत्याहार का ही अंग है। इसके बिना प्रत्याहार सिद्ध नहीं होता। मन में किस प्रकार की तरंगें उत्पन्न हो रही हैं, कौन-से विषय हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं, जब इतना ही नहीं मालूम होगा तो एकाग्रता कहाँ से होगी।

ध्यान में त्रैत की अवस्था

योग शास्त्र बतलाता है कि जब तुम ध्यान करने बैठते हो तो उस समय तीन चीजों का बोध होता है। पहला, मैं कर्त्ता हूँ, ध्याता हूँ। लक्ष्य, जो मुझे प्राप्त करना है, वह ध्येय है। और जिस प्रक्रिया को मैंने अपनाया है वह ध्यान की प्रक्रिया है। ध्याता, ध्यान और ध्येय – इन तीनों का समग्र ज्ञान होना जरूरी है।

बहुत बार लोग आते हैं, कहते हैं, 'स्वामीजी, ऐसा क्यों होता है कि मन दूसरी ओर भाग जाता है।' हम कहते हैं, 'तुम ही इसे भागने देते हो, इसलिए भागता है।' आप घर से यहाँ आए हैं। रास्ते में अनेक मोड़ आए थे कि नहीं? आप चाहते तो वहाँ रुक सकते थे, वहाँ रुक कर वहाँ के दृश्य देख सकते थे। यहाँ आने की आवश्यकता नहीं थी, लेकिन आपका एक ध्येय था कि हमें यहाँ पहुँचना है, इसलिए आप रास्ते में रुके नहीं। ठीक

इसी प्रकार का एक लक्ष्य जब मनुष्य के सामने स्पष्ट हो जाए, तब मन इधर-उधर नहीं भागता।

अत: सबसे पहले लक्ष्य को स्पष्ट करना है। जब लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तब फिर चाहे जो हो, कितनी भी बाधाएँ आएँ, कितने ही दृश्य दिखायी दें, सामने ध्येय ही रहता है, और यह ज्ञान रहता है कि मैंने एक प्रक्रिया को अपनाया है। मान लीजिए, आप गाड़ी से यहाँ आ रहे हैं, बीच रास्ते में गाड़ी से उतर कर पैदल आने लगेंगे? या बीच रास्ते में अपनी गाड़ी को रोक कर, उसमें ताला लगाकर बैलगाड़ी में चढ़कर यहाँ आएँगे? नहीं। अर्थात् प्रक्रिया बदली नहीं जाती। आरम्भ से अन्त तक, घर से यहाँ तक आप एक ही गाड़ी से, एक ही माध्यम से आए हैं। चाहे वह स्कूटर हो, रिक्शा हो, साइकिल हो, या मोटर हो। एक ही मार्ग आपने पकड़ा है। प्रक्रिया का अर्थ होता है कि ध्येय को प्राप्त करने के लिए जिस मार्ग को हमने अपनाया है, उसी पर चलना है। जो व्यक्ति गाड़ी में बैठता है, उसे मालूम रहता है कि मैं गाड़ी में बैठा हूँ। वह स्वयं के प्रति अचेत नहीं, सचेत है। उसे मालूम है कि मुझे गाड़ी ठीक से चलानी है। ध्याता, जो मैं हूँ, उसका भी मुझे ज्ञान है।

अत: ध्याता, ध्येय और ध्यान, यह है त्रैत की अवस्था। जैसे-जैसे आप लक्ष्य के समीप पहुँचते हैं, त्रैत की अवस्था द्वैत में बदल जाती है। आप यहाँ आए हैं, गाड़ी बाहर रुकी है, प्रक्रिया में विश्राम हो गया। अब बचते हैं केवल दो – ध्याता और ध्येय। प्रक्रिया में विश्राम का अर्थ है कि सान्निध्य की एक ऐसी अवस्था आने लगती है जिसमें मैं भूलने लगता हूँ कि मैं कुछ कर रहा हूँ। एक बार जब रिवॉल्वर से गोली निकल जाए, तो फिर निशाना साधने की आवश्यकता नहीं होती। निशाना तो तभी लगाना पड़ता है जब गोली चलानी हो। लेकिन एक बार जब घोड़ा दबा दिया, और रिवॉल्वर से गोली निकल गयी, फिर तो उसे कोई नहीं रोक सकता। इसे इस प्रकार भी ले लीजिए – रिवॉल्वर, गोली और लक्ष्य। एक बार गोली निकली कि रिवॉल्वर का काम समाप्त। गोली तो जाएगी ही लक्ष्य की ओर, माध्यम का काम समाप्त, विधि का काम समाप्त। यह अवस्था है – ध्याता और ध्येय। इसमें सान्निध्य की दूसरी अवस्था आती है, हम लक्ष्य के प्रभामण्डल में प्रवेश करते हैं। और तब द्वैत की समाप्ति होती है, अद्वैत की शुरुआत होती है।

अत: त्रैत की अवस्था है प्रत्याहार, द्वैत की स्थिति है धारणा और अद्वैत की अवस्था है ध्यान। जब मैं रहा तो तुम नहीं थे, लेकिन जब मैं नहीं तो तुम-

ही-तुम हो – यह अद्वैत की अवस्था है। द्वैत में मैं हूँ, लेकिन तुमसे भिन्न हूँ। अभिन्न नहीं हूँ, एक नहीं हूँ। लेकिन जब मैं नहीं रहता, तब क्या रहता है? एक नमक की गुड़िया यह जानने के लिए समुद्र में जाती है कि समुद्र कितना गहरा है, और डुबकी लगाती है। वह समुद्र में विलीन हो जाती है, स्वयं को खो देती है। यह है द्वैत से अद्वैत में परिणति।

इसलिए आप ध्यान करने से पूर्व ध्यान की प्रक्रिया को समझ लीजिए। केवल आँखों को बन्द करके अपने साथ संघर्ष नहीं करना है। यह चिन्ता नहीं करनी है कि मेरा मन नहीं लग रहा है। सीधे सातवीं सीढ़ी में कदम रखने से कुछ लाभ नहीं है। शनैः शनैः बढ़ते जाइए। बढ़ने की प्रक्रिया नहीं मालूम, तो किसी योगाभ्यासी से पूछ लीजिए कि मुझे क्या करना होगा, कैसे आगे बढ़ना होगा। उसे यह मत कहिए कि मुझे यह कठिनाई है, वह कठिनाई है, क्योंकि वह तो जानता ही है। बिना चिन्ता किए, स्वयं को और दूसरों को परेशान न करते हुए एक मार्ग पर बढ़ते जाइए, तभी सफलता मिलेगी। यही ध्यान की प्रक्रिया है।

दैनिक साधना

इसकी शुरुआत कैसे हो? देखिए, दिन में चौबीस घण्टे होते हैं, उसमें से आप कितना समय आत्मोत्थान के लिए देते हैं? शून्य मिनट। क्या दस मिनट नहीं दे सकते? अगर दे सकते हैं तो ध्यान से सुनिए, मैं स्पष्ट निर्देश दे रहा हूँ कि रात्रि को जब घर की बत्तियाँ बुझ जाएँ, जब सब सोने चले जाएँ, तब बिस्तर से उठ जाइए, और दस मिनट के लिए बैठ जाइए। कहिए कि यह दस मिनट का समय मैं आत्मोत्थान के लिए दे रहा हूँ। इस समय मेरा सम्बन्ध न इस शरीर से है, न शरीर के अनुभवों से है, न शरीर के सुख-दुःख से है। इस समय मेरा सम्बन्ध न मन से है, न मन की अनुभूतियों से है, और न मन की सुख-दुःख की अवस्था से है। इस समय मेरा सम्बन्ध मात्र अपनी आन्तरिक चेतना से है। जिस चेतना में मन का विस्तार होता है, उसी से मेरा सम्बन्ध है। अपनी सजगता को शरीर और मन से हटा दीजिए, केवल भ्रूमध्य में एक ज्योति की कल्पना कीजिए, और उस पर अपने मन को केन्द्रित कर दीजिए। सब कुछ भूलकर ज्योति पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित रखिए। यह ख्याल भी न रहे कि मैं यह क्रिया कर रहा हूँ। आप स्वयं देखेंगे कि सर्वप्रथम यह अनुभव काल्पनिक होगा, लेकिन जैसे-जैसे आन्तरिक एकाग्रता में वृद्धि होगी, वैसे-

वैसे ज्योति का प्रतीक भृकुटि में धीरे-धीरे स्पष्ट होगा। कभी एक क्षण के लिए आएगा, फिर दो, फिर तीन, फिर गायब हो जाएगा, पुन: दिखायी देगा, फिर गायब हो जाएगा। लेकिन एक दिन ऐसा समय आएगा कि यह निरन्तर भ्रूमध्य में दिखायी देगा। मन्त्र के माध्यम से उस प्रकाश में अपनी चेतना को एकाकार करने का प्रयत्न कीजिए। अगर आपका निजी मन्त्र नहीं है, तो ॐ मन्त्र का प्रयोग किया जा सकता है। ॐ को तो अक्षर ब्रह्म का निराकार स्वरूप माना गया है। ॐ मन्त्र का ख्याल कीजिए, और इसके स्पन्दन को पूरे शरीर एवं मन में व्याप्त अनुभव कीजिए।

इतना ही कीजिए। आप स्वयं देखेंगे कि इन्द्रियों एवं मन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के पश्चात् आपका दृष्टिकोण, आपका व्यक्तित्व बदलता है या नहीं, सकारात्मक रूप लेता है या नहीं। अवश्य लेगा, हम आपको इस बात की गारंटी दे रहे हैं। लेकिन इतना अवश्य कीजिए कि रात को दस मिनट का समय अपने को संसार से अलग करने के लिए, और आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए दीजिए। और कुछ नहीं करना है, न इष्ट के बारे में सोचना है, न अन्य किसी चीज के बारे में। नि:स्वार्थ भाव से, निष्काम भाव से शान्त बैठकर अपने को ज्योति के अनुभव में केन्द्रित कर दीजिए, तभी आपका ध्यान सिद्ध होगा, तभी आपका मन स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ और निर्मल होगा। फिर उसके बाद, 'जिस रंग में परमेश्वर राखे उसी रंग में रहना रे बन्दे, उसी रंग में रहना।'



सजगता

योग में सजगता को धारण करना प्रथम चरण है, क्योंकि यही एक माध्यम है जिसके द्वारा हम शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक क्रियाओं के प्रति सजग होकर अपने जीवन को एक नया रूप, एक नई दिशा प्रदान कर सकते हैं। वस्तुत: योग का प्रारम्भ सजगता से ही होता है, और योग में इस सजगता को नाम दिया गया है अनुशासन। अनुशासन को अधिकतर लोग अंग्रेजी के शब्द 'डिसिप्लिन' के अर्थ में लेते हैं, एक नियम के रूप में अपनाते हैं, लेकिन योग का अनुशासन 'डिसिप्लिन' नहीं है, नियम नहीं है, बल्कि स्व-सजगता है।

यह किस प्रकार की सजगता है? यह जागरूक होना है। जिस प्रकार से कोई कर्म करने के लिए सबसे पहले हम कर्म के प्रति जागरूक हो जाते हैं, कार चलाने के लिए जागरूक रहना आवश्यक है। अगर कहीं पर जागरूकता न रहे तो दुर्घटना हो सकती है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जिनमें हम अपने जीवन में जागरूकता का, सजगता का प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग में कभी-कभी चेतन तत्त्व भी प्रबल हो जाते हैं। सजगता मात्र चेतन ही नहीं, अचेतन भी है। इस अचेतन सजगता का अनुभव हम अपने जीवन में हमेशा करते रहते हैं। गाड़ी चलाते समय हमेशा तो यह ध्यान नहीं रहता कि अब हमें ब्रेक लगाना है, अब गियर बदलना है, अब एक्सिलेटर दबाना है। वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में होता रहता है। उस सजगता का सम्बन्ध इन्द्रियों एवं मन के संयोग से रहता है। अगर आपके मन और इन्द्रियों में सम्बन्ध-विच्छेद हो जाए तो सजगता समाप्त हो जाएगी। उस समय सजगता का रूप न चेतन रहेगा न अचेतन। इसी सजगता को चेतन रूप में अवस्थित करना योग का उद्देश्य होता है। प्रतिक्षण हमें अपनी आन्तरिक प्रतिक्रियाओं

का ज्ञान होता रहे ताकि हम अपने विचार, व्यवहार एवं कर्मों को सकारात्मक दिशा में ले जा सकें।

अनुशासन

इसी बात को महर्षि पतंजलि अपने योग सूत्रों में कहते हैं। प्रथम सूत्र है – *'अथ योगानुशासनम्।'* शासन का अर्थ होता है नियंत्रण करना। जिस प्रकार से एक राजा अपने राज्य में शासन करता है, अपने राज्य पर नियंत्रण रखता है, अपने राज्य में अनुशासनहीनता नहीं आने देता, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने जीवन के किसी क्षेत्र में, चाहे वह बाह्य हो, भौतिक हो, व्यावहारिक हो, आन्तरिक हो, मानसिक हो, विचारात्मक हो या दार्शनिक, किसी प्रकार की अव्यवस्था या असंतुलन को उत्पन्न नहीं होने देता। यह तो हुआ शासन का अर्थ। अब इसी में एक और शब्द जुड़ा हुआ है 'अनु'। इस शब्द का सम्बन्ध है सूक्ष्म जगत् से, सूक्ष्म अवस्था से, सूक्ष्म अनुभूति से। स्थूल तथा सूक्ष्म अवस्थाओं पर जब हमारा नियंत्रण हो जाए, तब उस अवस्था को हम योग कहते हैं। योग की शुरुआत वहीं से होती है।

इसके अन्य पहलू भी हैं। शरीर, जो स्थूल है, जिसका हम परिचय प्राप्त कर सकते हैं, जिसका अनुभव कर सकते हैं, जिसके द्वारा कर्मों का सम्पादन होते देख सकते हैं, उसके प्रति पहले सजग होना। हवा का प्रवाह तो रहता ही है, लेकिन वह दिखलाई नहीं देता। दिखलायी तभी देगा जब कोई स्थूल पदार्थ हवा से उड़ने लगेगा। जब धूल उड़ती है, पत्ते उड़ते हैं तब हम अनुभव करते हैं कि हवा प्रवाहित हो रही है, उसका इतना वेग है। सूक्ष्म में जब स्थूल मिलता है, अव्यक्त में जब व्यक्त का मिश्रण होता है, तब एक गति का, एक प्रवाह का बोध होता है।

सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सजगता

यह बात सत्य है कि अधिकतर लोग अपने विकास-क्रम में स्थूल अवस्था को भूलकर सूक्ष्म के प्रति ज्यादा जागरूक एवं सजग होने का प्रयत्न करते हैं। कहते हैं कि जब मन को जाग्रत करना है तो शरीर का उतना महत्त्व नहीं। जो लोग और पहुँचे हुए रहते हैं, वे कहते हैं कि मन का भी उतना महत्त्व नहीं जितना कि आत्मा का है, इसलिए सीधे आत्मा को ही पकड़ो, और शरीर को भूल जाओ, मन को भूल जाओ। यह विचारधारा भ्रामक है। अगर कोई

कहे कि मन को ही पकड़ो, और शरीर को भूल जाओ, तो यह विचारधारा भी गलत है। यह तो उसी प्रकार का किस्सा है जैसे एक हाथी को जानने के लिए एक अन्धा उसकी पूँछ पकड़ता है, और कहता है कि यही हाथी है। हाथी तो पूरा व्यक्तित्व है हमलोगों का। उसमें शरीर भी है, मन भी है, आत्मा भी है; मस्तिष्क है, हृदय है, हाथ हैं – बुद्धि, भावना और कर्म हैं। ये सभी मिलकर हाथी का स्वरूप बनाते हैं। अगर किसी एक पक्ष को पकड़ कर कहें कि हाथी का यही स्वरूप है, तो यह कहना गलत होगा। अधिकतर लोग यही गलती करते हैं। कुछ लोग आधा घंटा ध्यान में बैठने का प्रयत्न करते हैं, ताकि जल्दी-से-जल्दी उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हो जाए। कुछ लोग हठयोग को ही आधार मान कर मन को नकार देते हैं, और हठयोग से ही शुद्धि तथा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि योग सर्वशक्तिमान् होते हुए भी मनुष्य के जीवन को सकारात्मक रूप नहीं दे पाता।

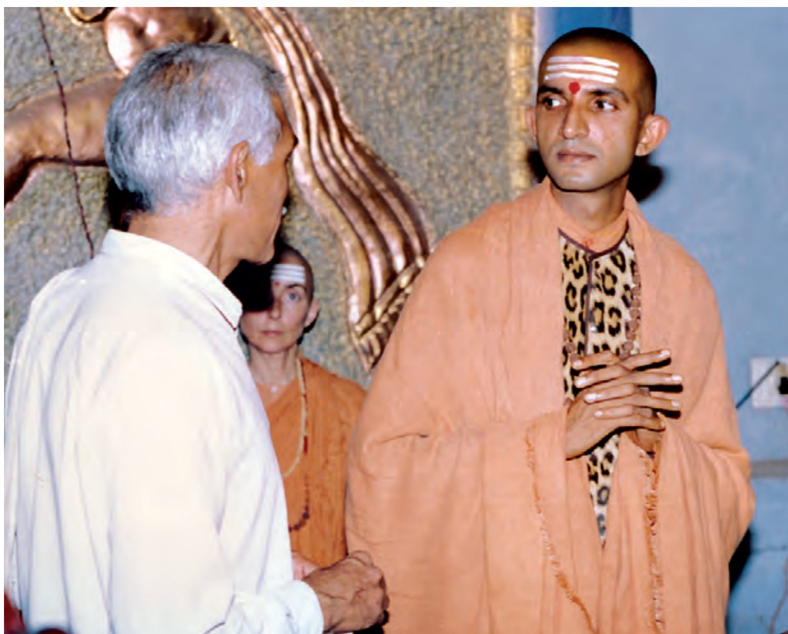
अनुभवी योगाभ्यासियों के भीतर भी वही दंभ, वही क्रोध, वही ईर्ष्या, वही नकारात्मक और संकीर्ण विचारधाराएँ रहती हैं। फिर इस प्रकार के योगाभ्यास का क्या लाभ? जब कोई दूसरे से जले, अपने स्वार्थ के पीछे भागे, अपने मन को शान्त न कर सके, और यह दावा करे कि मैं तो इतने सालों का योगाभ्यासी हूँ, तो फायदा क्या इस प्रकार के योगाभ्यास का? गलती हमारी ही है कि हम अन्धे की तरह हाथी की पूँछ पकड़ कर कहते हैं कि मैंने तो हाथी को पहचान लिया, हाथी का स्वरूप एक रस्सी है। इसी तरह अपने व्यक्तित्व के स्वरूप को जानने के लिए आत्मा, मन या शरीर के किसी भाग को हम पकड़ते हैं और कहते हैं कि अब तो मैंने इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया है। इसी प्रकार हम डाँवाडोल होते रहते हैं। इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि सूक्ष्म को समझने के लिए पहले स्थूल को समझा जाता है, देखा जाता है, और सिद्ध किया जाता है।

अणु की शक्ति को जाग्रत करने के लिए उसे ऊर्जा के रूप में नहीं, पदार्थ के रूप में खोजना पड़ता है। जब पदार्थ रूप में उस अणु की अनुभूति हो जाती है, तब उस पदार्थ से शक्ति के विस्फोट की संभावना बनती है, अन्यथा नहीं। इसलिए यह मानकर चलना है कि योग का सम्बन्ध न केवल आत्मा से है, न केवल मन से है, और न केवल शरीर से है, बल्कि इन तीनों के संयोग से है। जब एक प्रकार का सामंजस्य, एक प्रकार का संतुलन इन तीनों अवस्थाओं में स्थापित हो जाता है, तभी योग जीवन में फलीभूत होता है, उसके पहले नहीं।

इसलिए अपने यौगिक जीवन में यह प्रयास करना चाहिए कि हम अपने शरीर को भी उतना ही महत्त्व दें जितना आत्मा को देते हैं, और आत्मा को भी उतना ही महत्त्व दें जितना शरीर को देते हैं।

गुरुजी हमेशा कहा करते हैं कि मनुष्य बुद्धि, भावना और कर्म के गुणों का एक समुच्चय है। मनुष्य के व्यक्तित्व में तीनों गुणों का समावेश रहता है। पारम्परिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ये गुण मस्तिष्क, हृदय और हाथों के होते हैं। मस्तिष्क, हृदय और हाथ; शरीर, मन और आत्मा; सत्त्व, रजस् और तमस् – इन तीनों को साथ लेकर चलना ही योग है।

इस योग को सिद्ध करने के लिए सजग रहना, जागरूक रहना, वर्तमान में रहना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य सामान्यत: वर्तमान में जीता नहीं है। वह अपने भूतकाल में जीता है और अपने भविष्य की कल्पना करता है। वर्तमान में वह मात्र दु:खी रहता है। जो व्यक्ति भूतकाल में जीये, भविष्य की चिन्ता करे और अपने वर्तमान को न बना सके, वह जीवन में कभी सुखी नहीं हो सकता। उसके जीवन में शान्ति का अभाव रहता है, इसलिए सजगता के माध्यम से वर्तमान में जीने की शिक्षा योग हमें देता है।



सामाजिक परिवर्तन का संवाहक – योग

आज नर्मदा की गोद में अवस्थित इस नगर में योग के प्रचार-प्रसार का कार्यक्रम रखा गया है। योग शब्द यहाँ के लिये नया नहीं है। आप सब इससे पूर्णतया परिचित हैं। आज का यह सम्मेलन जो आपने आयोजित किया है, वह परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी को समर्पित है, जिन्होंने अपने शिष्यों में, जिनमें हमारे गुरुदेव सत्यानन्द जी भी हैं, योग की दीप-शिखा प्रज्वलित की थी, और उन्हें संसार के सभी मनुष्यों के मध्य योग के प्रचार-प्रसार-कार्य हेतु प्रोत्साहित किया था। वे एक चिकित्सक थे। एक सिद्धहस्त चिकित्सक होने के नाते, एक बुद्धिजीवी होने के नाते, एक वैज्ञानिक होने के नाते एवं सबसे अधिक एक मानवतावादी होने के नाते उन्होंने अनुभव किया था कि आज संसार में मनुष्य जिन रोग-व्याधियों से पीड़ित है, उनका निदान किसी भौतिक चिकित्सा प्रणाली के पास नहीं है, वरन् मानव की समस्त समस्याओं का निदान उसके ही अन्दर विद्यमान है। उनकी मान्यता थी कि यदि मानव अपना जीवन बिगाड़ सकता है तो उसके अन्दर यह क्षमता भी है कि वह अपने जीवन का निर्माण कर सकता है, जीवन को सुधार सकता है, उसमें सुख और शान्ति ला सकता है।

भौतिकता का सम्मोहन

जीवन को बिगाड़ने वाली तो अनेक परिस्थितियाँ होती हैं, लोग होते हैं, और हम स्वयं भी होते हैं। परन्तु इस जीवन को संवारने की क्षमता भी हममें विद्यमान है, भले ही उसकी जानकारी हमें नहीं है। इसका कारण है कि हम अपना जीवन बिगाड़ चुके हैं। हमें पता भी नहीं कि हम जीवन के किस मोड़ पर खड़े हैं। आप लोग मेरी बातों से सहमत अवश्य होंगे, क्योंकि सभी प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त करने के बाद भी मानव अभी तक अस्वस्थ है, अशान्त

है। आज तक हम एक भी ऐसे व्यक्ति से नहीं मिले हैं जो यह कहे कि मैं पूर्णरूपेण स्वस्थ हूँ। यदि कोई शरीर से स्वस्थ है तो मन से बीमार है। अगर मन से स्वस्थ है तो भावनात्मक स्तर पर दु:खी है। यदि भावनात्मक स्तर पर भी स्वस्थ है तो आध्यात्मिक स्तर पर अस्वस्थ है। तात्पर्य यह कि हमारे जीवन में कहीं-न-कहीं इस प्रकार की पीड़ा अवश्य रहती है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य न आज तक पूर्णरूपेण स्वस्थ रहा है, और न कभी रहेगा। इसका कारण है भौतिकता के प्रति सम्मोहन। यह भौतिक सम्मोहन ऐसा विचित्र जादू है जो मनुष्य को अपने आप से बराबर दूर ही ले जाता है, जो हमारा स्वयं से सम्बन्ध तुड़वा चुका है।

आप अपने जीवन में ही देखें, आपके शरीर में, आपके मन और भावनाओं के क्षेत्र में क्या संतुलन और सामंजस्य है? नहीं है। यदि है तो कहिये, हम अपना विचार बदल देंगे, पर आज तक किसी ने मेरे विचारों को बदलने का सुअवसर नहीं दिया है। हमने प्रारम्भ से ही एक भूल की है। हमारे भीतर एक संस्कार है, और यह संस्कार आदि मानव से चला आया है। सर्वप्रथम जो मानव धरती पर अवतरित हुआ, और उसने चारों तरफ देखा, तो उसके भीतर स्वाभाविक जिज्ञासा जगी – 'मैं कौन हूँ? इस पृथ्वी का रचयिता कौन है? यह सृष्टि किसने बनायी है? इस पृथ्वी, इस ब्रह्माण्ड का निर्माता कौन है?' यही प्रथम जिज्ञासा या विचार संस्कार के रूप में हमारे भीतर जो डी.एन.ए. है, उसमें पड़ा हुआ है। पर हम तो इस विचार से विमुख हो भोग और भौतिकता में लिप्त हो गये हैं। और यही कारण है हमारे दु:खों का, हमारी अशान्ति का, हमारे क्लेश, रोग, अस्वस्थता और असंतुलन का। ये बढ़ते ही जा रहे हैं, क्योंकि हमने भोग को ही सब कुछ माना है।

यजुर्वेद की चालीसवीं संहिता में कहा गया है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम् ॥

जब तक प्राणी इस संसार में है, उसे भोग करना ही है, भोग से वह भाग नहीं सकता। भोग का वह त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि देह का एक धर्म होता है, एक कर्म होता है। बुद्धि का एक धर्म होता है, भावनाओं का एक धर्म होता है। हमारे समस्त व्यक्तित्व का एक धर्म है, एक कर्म है। जब तक यह व्यक्तित्व है, हमें भोग तो भोगना ही है। कर्मों को भोगना है, धर्म को

भोगना है। इनसे दूर रहना सम्भव नहीं है। परन्तु भोग जब तक एक लक्ष्य या प्राप्ति के रूप में सामने रहता है, तब तक उसमें लिप्तता बढ़ती जाती है, उसकी कामना प्रबलतर होती जाती है। महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं। फिर तो एक ऐसा दुश्चक्र बन जाता है कि मनुष्य अपना सुख, चैन और स्वास्थ्य, सब खो देता है।

योग के सोपान

हमारे ऋषि-मुनियों ने एक ऐसे समाधान का आविष्कार कर समाज के सामने उसे प्रस्तुत किया है, जिसके द्वारा हम भोग को भी योग में परिणत कर सकते हैं, जिससे हमारे शरीर का सामंजस्य मन के साथ, एवं मन का आत्मा के साथ हो जाय। इसी समाधान का नाम है योग। योग का अर्थ है एक साथ आना, एक साथ जुड़ना। यह जो जोड़ने की प्रक्रिया है, यह पूर्णतया व्यावहारिक है, केवल दार्शनिक विचार नहीं है। इसके द्वारा हम अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों एवं उनके द्वारा अर्जित ज्ञान को मन के साथ जोड़ते हैं। मन की विभिन्न शक्तियों को एक दिशा प्रदान करते हैं। आत्मशक्ति को जाग्रत करने का प्रयत्न करते हैं। फिर सामंजस्य की स्थापना प्रत्येक स्तर पर होती है। इस विधि को ही, इस समाधान को ही योग कहते हैं।

जब महर्षि पतंजलि से प्रश्न किया गया कि योग क्या है, तो उन्होंने एक ही सूत्र में उत्तर दिया– *'अथ योगानुशासनम्।'* योग अनुशासन की एक प्रक्रिया है। इस प्रकार का अनुशासन जिसके माध्यम से आप अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को संयत कर सकते हैं, अपने समग्र जीवन को अनुशासित कर सकते हैं। इस योग के विभिन्न पक्ष हैं। उन्होंने इसके चार पक्षों का वर्णन किया है। पहला पक्ष है यम और नियम। दूसरा पक्ष है आसन और प्राणायाम। तीसरा पक्ष है प्रत्याहार और धारणा। चौथा पक्ष है ध्यान और समाधि।

यम और नियम के अभ्यास द्वारा मनुष्य अपने विचार और व्यवहार में परिवर्तन एवं संतुलन लाता है। आसन और प्राणायाम द्वारा सभी शरीरस्थ तंत्रों और तंत्रिकाओं में अनुशासन स्थापित किया जाता है। शरीर में स्वास्थ्य, शक्ति, ऊर्जा और स्फूर्ति का अनुभव किया जाता है। प्रत्याहार और धारणा के द्वारा चंचल मन को शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है, मानसिक एकाग्रता में वृद्धि की जाती है। ध्यान के द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन किया जाता है। अन्त में अपने नित्य शरीर का बोध होता है। यह योग की पारम्परिक प्रक्रिया है।

कुछ लोग कहते हैं ध्यान अत्युत्तम है, इससे ईश्वर का दर्शन होगा। कुछ कहते हैं कि प्राणायाम से कुण्डलिनी का जागरण होगा। योग इन सब को मानता है, स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही यह भी कहता है कि योग में जो प्राप्ति होगी वह तो अभ्यास का परिणाम ही है। जब योगाभ्यास में मनुष्य स्वयं को परिपक्व बना लेता है, तब परिणाम के रूप में उसे पूर्णता की प्राप्ति होती है। परिणाम के रूप में उसे आत्मदर्शन होता है। परिणाम के रूप में उसकी अन्तर्शक्ति जाग्रत होती है।

योग में परिणाम माना गया है एक संतुलित आहार, विचार, व्यवहार, तथा जीवन पद्धति को। इसलिये कहा गया है कि सर्वप्रथम शरीर में जो असंतुलन है, उसे दूर करो, क्योंकि जब तक असंतुलन की अवस्था बनी रहेगी, तब तक कोई लाभदायक परिणाम प्राप्त नहीं होगा। जिस प्रकार अर्जुन बाण चलाते समय केवल अपने लक्ष्य को देखते थे, उनकी इस क्रिया में उनकी एकाग्रता और शक्ति का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार से हमलोगों को भी लक्ष्य-भेद करने के लिये एकाग्रता की आवश्यकता है, शक्ति की आवश्यकता है। चंचल, तनावपूर्ण अथवा रोगपूर्ण अवस्था में, अशान्त अवस्था में लक्ष्य-भेदन सम्भव नहीं है। आप प्रयास कीजिये, बिना लक्ष्य की ओर देखे गोली चलाइये, गोली निशाने पर नहीं लगेगी। शस्त्र से मतलब नहीं, शस्त्र के पीछे जो शस्त्रधारी खड़ा है, महत्त्व उसका अधिक है। अगर मनुष्य एकाग्रचित्त है, संयत है, केन्द्रित है, तो उसका ही महत्त्व शस्त्र की अपेक्षा अधिक है। योग की यही विचारधारा है।

हमलोगों को सर्वप्रथम शरीर में सामंजस्य उत्पन्न करना होगा। फिर शरीर और मन में। फिर मन और आत्मा में। आत्मा तो अति सूक्ष्म है, इस अति सूक्ष्म अवस्था को किस प्रकार पकड़ा जाए, जाना जाए, अनुभव किया जाए? यह किसी के वश की बात नहीं है। मन आत्मा से थोड़ा स्थूल है, लेकिन फिर भी सूक्ष्म है। तो मन को किस प्रकार नियंत्रण में लाया जाए? इसकी चंचलता को कैसे समाप्त किया जाए? यह भी मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर है। शरीर स्थूल होता है, और इसी शरीर के माध्यम से आप अपने मन को पार कर आत्मा के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। ऐसा योगियों का मत है।

योगासन के प्रभाव

अत: योग में शरीर शुद्धि के लिये, शारीरिक क्षमता की जागृति के लिये आसनों का विधान है। महर्षि पतंजलि ने आसनों की परिभाषा दी है– *'स्थिरं*

सुखमासनम्।' आसन उस शारीरिक भंगिमा को कहते हैं जिसमें स्थिरता का अनुभव हो, सुख का अनुभव हो। इसके पीछे एक विज्ञान है, एक रहस्य है। आप ध्यान से देखेंगे तो पाएँगे कि हमारा शरीर सदा ही तनाव और विक्षोभ की अवस्था में रहता है। दिन में प्रतिक्षण हमारा शरीर तनाव और विश्रांति की अवस्थाओं में आता रहता है। शारीरिक तनाव की अवस्था में हमारे शरीर के जो तंत्र-तंत्रिकायें हैं, वे उत्तेजित हो जाते हैं। श्वसन तंत्र में उत्तेजना का अनुभव होगा, उदर प्रदेश में उत्तेजना का अनुभव होगा, मस्तिष्क में उत्तेजना का अनुभव होगा। इस उत्तेजना के कारण तनाव की अनुभूति होगी। इसके विपरीत है विश्रांति की स्थिति। विश्रांति की अवस्था में शरीर भौतिक रूप से विश्राम में रहता है। शरीर के जो स्थूल अंग हैं वे विश्राम प्राप्त करते हैं, परन्तु शरीर की सूक्ष्म प्रक्रिया में विश्रांति नहीं आती।

यदि आपको इस पर विश्वास नहीं होता तो इंग्लैण्ड में हुए एक शोध के बारे में बतलाता हूँ, जिसमें मस्तिष्क के चित्र उतारे गये हैं। उन चित्रों को देखने पर पता चलता है कि विश्राम की अवस्था में भी मस्तिष्क में उत्तेजना रहती है, तथा योग अभ्यास करने के बाद मस्तिष्क में शान्ति की अनुभूति होती है। जिसे आप विश्राम की अवस्था मानते हैं, उस अवस्था में भी आन्तरिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के तनाव स्थूल मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहते हैं। इसे तो अपने जीवन में ही देख सकते हैं। जब आप रात्रि में बिस्तर पर लेटते हैं तो क्या उस समय आप शान्त रहते हैं? नहीं। आप किसी-ने-किसी प्रकार की चिन्ता या परेशानी से, जिसका सम्बन्ध आपके परिवार से या कार्यालय से या आपके व्यक्तिगत जीवन से है, आन्तरिक रूप से उद्विग्न रहते हैं। इसी उद्विग्नता में निद्रा आती है। यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है कि आपका शरीर, आपका मन प्रतिक्षण तनाव और विश्रान्ति की अवस्थाओं से गुजरता रहता है।

यदि हम अपने भीतर की प्राण-शक्ति को संचालित कर सकें तो वह इधर-उधर नहीं बिखरती और एक शक्तिशाली स्वरूप धारण करती है। इसी अवस्था को योग में कहते हैं, प्राणोत्थान, प्राणों की जागृति। योग दर्शन में बताया गया है कि महाप्राण, जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, हमारे शरीर में पाँच रूपों में अवस्थित है, जिनके नाम हैं – अपान, समान, उदान, व्यान और प्राण। अपान का सम्बन्ध रहता है निष्कासन प्रक्रिया से। यह अधोगामी ऊर्जा है। ऊर्ध्वगामी ऊर्जा को उदान कहते हैं। तीसरा है समान, जिसका सम्बन्ध शरीर में गति एवं शारीरिक क्रियाओं से है। प्राण का पाँचवा रूप है व्यान, जो पूरे

शरीर में ऊर्जा के रूप में व्याप्त है। ये सभी अपना-अपना काम करते रहते हैं। परन्तु जब सभी एक ही दिशा में काम करते हैं, तभी शरीरस्थ चक्रों का भेदन होता है, प्राणों की जागृति होती है, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। हम चाहे आसन करें या प्राणायाम, इनका प्रयोजन है प्राणों की जागृति। इनका उद्देश्य है चक्रों को स्पन्दित करना, कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना।

लोग तो आसन को मात्र एक शारीरिक क्रिया के रूप में समझते हैं। अगर आप किसी भंगिमा में सुखपूर्वक बैठ सकते हैं, और उस भंगिमा में प्राणों का प्रवाह सुचारु रूप से होता है, तो उस भंगिमा को हम आसन कहते हैं। यदि प्राणों का प्रवाह सुचारु रूप से नहीं होता तो वह मात्र व्यायाम है। आसनों का उद्देश्य है प्राणों का उत्थान, उसका सुचारु रूप से प्रवाह। इस प्रक्रिया में देखा गया है कि अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी दूर हो जाते हैं। इसका कारण है आपकी आन्तरिक शक्ति का जागरण। ये आसन आपकी आन्तरिक जीवनी शक्ति का, प्राणों का जागरण करते हैं। इसलिए महर्षि पतंजलि ने आसन और प्राणायाम को योग के शारीरिक पक्ष के रूप में महत्त्व प्रदान किया है।

मानव व्यक्तित्व का समन्वित विकास

हमारे गुरुदेव कहते हैं, 'मानव बुद्धि, भावना और कर्म का एक समुच्चय है।' अपने दैनिक क्रिया-कलापों में मनुष्य बुद्धि, भावना और कर्म, तीनों का उपयोग करता है। मनुष्य एकांगी नहीं हो सकता कि केवल बुद्धि का प्रयोग करे, भावना एवं कर्म को भूल जाए, या केवल भावनाओं का प्रयोग करे, बुद्धि और कर्म को भूल जाए। अगर केवल कर्म करे और बुद्धि एवं भावना को भूल जाए, तो क्या जीवन में सफलता मिलेगी? सम्भव नहीं है। इन तीनों का सन्तुलित संयोग आवश्यक है। जब तक इनका प्रयोग एक साथ नहीं होता, व्यक्ति कर्म-सिद्ध नहीं हो सकता। आपमें ईश्वर-दर्शन या कुण्डलिनी जागरण की कामना हो सकती है, लेकिन आपकी वर्तमान अवस्था में उसकी कतई सम्भावना नहीं है, क्योंकि आपमें वह पात्रता अभी नहीं है, आपकी वह तैयारी अभी नहीं है कि आप उन अनुभवों को प्राप्त कर सकें।

हमारे गुरुदेव से एक व्यक्ति ने पूछा था कि क्या इस जीवन में ईश्वर-दर्शन सम्भव है। गुरुदेव ने कहा, 'नहीं, सम्भव नहीं।' व्यक्ति ने पूछा, 'तो हम ये साधनाएँ, आसन, प्राणायाम, योग आदि क्यों करते हैं?' गुरुदेव ने उसे समझाया, देखो, खोपड़ी सीमित है और ईश्वर असीम तत्त्व है। एक

असीम तत्त्व को तुम सीमित पात्र में कैसे भर सकते हो? एक कटोरी में सागर का जल भर सकते हो? सागर उसमें कैसे समायेगा? जो साधना हम करते हैं उसका एक उद्‌देश्य है, प्रयोजन है। हम अपनी सीमाओं को पारकर अपनी चेतना को असीम बनाने का प्रयास करते हैं। जिस क्षण हमारी चेतना की सीमाएँ टूट जाएँगी, असीम और व्यापक हो जाएँगी, उस समय जो होना होगा हो जाएगा। अवश्य हो जाएगा, लेकिन प्रयोजन यही रहना चाहिए – मानव अस्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण, मानव जीवन की सीमाओं को पार करना। जब तक हम अपनी सीमाओं को तोड़ नहीं देते, तब तक हममें पात्रता नहीं आएगी। और जब हम पात्र ही नहीं, तो ग्रहण कहाँ करेंगे? किसे करेंगे? कैसे करेंगे? यह तो वैसी ही बात हो गयी कि एक युवा वैज्ञानिक अपने किसान पिता से कहता है कि मैंने एक ऐसे रसायन की खोज की है जिसे जिस किसी पात्र में रखिये, उसे जला देगा। पिता ने सरल भाव से पूछा, 'बेटा, अभी तुमने उसे रखा कहाँ है? किस पात्र में रखा है?' यही बात है यहाँ भी। हम तो नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं, और वह है ईश्वर, अपरिवर्तनशील। अब उस शक्ति, उस चेतना, उस तत्त्व का अनुभव करने की क्षमता हममें है क्या? नहीं है। योग की इन विधियों से मनुष्य अपने अन्दर पात्रता लाता है, क्षमता उत्पन्न करता है। अत: शरीर, मन और आत्मा के आयामों का, मस्तिष्क, हृदय और हाथ की क्षमताओं का समन्वय अति आवश्यक है।

योग के तीन आयाम

शरीर को साथ लेकर चलना आवश्यक है, मन को भी साथ लेकर चलना आवश्यक है। शरीर के साथ मन का भी संयोग होता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं, जब शरीर संतुलित हो जाए, नीरोग हो जाए तब मन के क्षेत्र में प्रवेश करो। शरीर से सम्बन्धित जो योग का अंग है, वही योग का चिकित्सा विज्ञान है। योग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। पहला चिकित्सा विज्ञान, दूसरा मनोविज्ञान, और तीसरा जीवन विज्ञान। योग का जो अंग शरीर से सम्बन्धित है वह चिकित्सा विज्ञान है। अर्थात् आसन और प्राणायाम। आप सम्भवत: विश्वास न करें, पर विश्व में योग के ऐसे अद्‌भुत प्रयोग हुए हैं, जिनसे पुष्टि होती है कि कैंसर जैसा मारक रोग भी योगाभ्यास से ठीक हो जाता है। मुंगेर में नवम्बर 1993 में जो विश्व योग सम्मेलन हुआ था, उसमें हमारे इंग्लैण्ड स्थित योगाश्रम की संचालिका, स्वामी प्रज्ञामूर्ति ने घोषणा की थी कि योग के द्वारा अब 'एड्स'

जैसा रोग भी दूर हो सकता है, और ऐसा प्रयोग उन्होंने किया है। एड्स ऐसा रोग है जिसका समाधान आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के पास नहीं है। परन्तु वह समाधान योग के पास है। योग का जो पक्ष शरीर में संतुलन लाता है, शरीर की क्षमता को जाग्रत करता है, उसका एक रूप चिकित्सात्मक भी है।

इसका दूसरा पक्ष है मनोवैज्ञानिक। महर्षि पतंजलि ने इस पक्ष में प्रत्याहार तथा धारणा को रखा है। कहते हैं मन चंचल है ही, और चंचल रहेगा भी, क्योंकि इसको संयत रखने की शिक्षा हमें कभी मिली ही नहीं है। जब तक मन चंचल रहेगा, बिखरा रहेगा, जैसे एक बिजली के बल्ब की रोशनी चारों ओर बिखरती है, तब तक आप उसका सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते। लेकिन बिजली के बल्ब से प्रसारित होने वाली प्रकाश किरणों को यदि हम एक बिन्दु में केन्द्रित कर दें तो उसका रूप हो जाता है 'लेसर किरण' का, जिसमें इतनी शक्ति होती है कि वह लोहे की चादर में छेद कर सकती है। मात्र बिखरी हुई प्रकाश किरणों का केन्द्रित रूप है यह ऊर्जा। ठीक इसी प्रकार यदि हम मन की ऊर्जा को एक बिन्दु में केन्द्रित कर दें, अपनी अनुभूतियों और मानसिक अवस्थाओं को एकाग्र कर दें, तो हमारा जो सूक्ष्म अस्तित्व है – मन, वह एक प्रचण्ड शक्ति का रूप धारण कर सकता है। आपका जो लक्ष्य होगा, वहाँ तक तो वह पहुँचा कर ही रहेगा। प्रत्याहार और धारणा में इस विधि की शिक्षा दी जाती है। यही है योग का मनोविज्ञान। इसके द्वारा आप अपने परम संभावना वाले मन को समझ सकते हैं, तथा उसे केन्द्रित कर उसकी विक्षिप्त शक्तियों को एकाग्र करना सीखते हैं।

जब मन एकाग्र एवं शान्त हो जाता है, तब प्रारम्भ होता है योग का जीवन-विज्ञान पक्ष। इस पक्ष में आते हैं ध्यान और समाधि। इन्हें समझने के लिए इन दोनों के व्यावहारिक पक्ष को देखना चाहिए। लोग तो समाधि के नाम से घबरा जाते हैं कि पता नहीं इसमें क्या हो जाए। पता नहीं इसमें क्या स्थिति हो। पर यह है बड़ी व्यावहारिक पद्धति। ध्यान और समाधि शक्ति की एकाग्रता, केन्द्रीकरण एवं चेतना की जागृति के प्रतीक हैं। दो तत्त्व हैं, चेतना और शक्ति। बाल्यावस्था में मैं एक दिन अपने गुरुदेव से खेल-खेल में पूछ बैठा था कि एक लंगड़ा और एक अन्धा हैं, वे दोनों कहीं दूर जाना चाहते हैं, कैसे पहुँचेंगे, आप बताइये तो। मैं तो उस समय बच्चा था। मैंने तो गुरुजी से बस एक पहेली पूछी थी। पर गुरुदेव मुस्कुरा उठे, और कहने लगे, अरे, इसमें कौन-सी बड़ी बात है। इसका उत्तर मैं थोड़ी देर में दूँगा। उन्होंने

इसका उत्तर दिया अपने एक सत्संग में। हमारे अन्दर जो चेतन तत्त्व है, वह लंगड़ा है। देख तो सकता है पर चल नहीं सकता। हमारे भीतर जो शक्ति तत्त्व है, वह चल तो सकता है, पर देख नहीं सकता। वह है अन्धा। अगर शक्ति तत्त्व पर शिव तत्त्व आरूढ़ हो जाय, अर्थात् अंधे के कन्धे पर लंगड़ा चढ़ जाए, तो दोनों कहीं भी जा सकते हैं। लंगड़ा मार्ग बतायेगा और अन्धा उसके निर्देशानुसार चलता जायेगा। हमने तो पूछी थी एक छोटी-सी पहेली, पर गुरुदेव ने अनुग्रह कर इतना सारगर्भित उत्तर दिया, जिसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ। यह है भी वास्तविक सत्य कि चेतना में साक्षी होने, द्रष्टा होने की क्षमता है। और शक्ति गतिशील होते हुए भी अन्धी है। इन दोनों को हम अपने जीवन में अनुभव करते हैं।

इन दोनों का संयोग कर चलना हमारा काम है। अत: यहाँ शक्ति का उत्थान होना चाहिए और साथ ही चेतना का विकास होना चाहिए। इसका अनुभव होता है ध्यान की अवस्था में, तथा इसकी पूर्णाहुति होती है जब दोनों पूर्णत: जाग्रत हो जाते हैं। और जागृति के पश्चात् जब वे एकाकार हो जाते हैं, तो उस रूप को योग शास्त्र में कहते हैं अर्द्धनारीश्वर रूप। तभी ध्यान और समाधि पूर्ण होते हैं। इस क्रम में विचार और व्यवहार में जो परिवर्तन आते हैं, उसका कारण होता है यम-नियमों का आचरण।

यम-नियम

यम हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। नियम हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। लेकिन इन्हें सिद्ध करने के लिये आपको आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा को पहले सिद्ध करना होगा। महर्षि पतंजलि ने जिस युग में योग दर्शन की व्याख्या की थी, उस समय के लोग, उनकी मानसिकता, सामाजिक परिस्थितियाँ आज से भिन्न थीं। इसलिये उन्होंने सर्वप्रथम यम और नियम को रखा था। पर आज की परिस्थितियों में हम पहले आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा को रखेंगे, उसके उपरान्त यम-नियम और अन्त में ध्यान तथा सबसे अन्त में समाधि। भगवान् पतंजलि से इस परिवर्तन के लिए क्षमायाचना करते हुए हम आज की परिस्थितियों को दृष्टि में रख यह परिवर्तन अनिवार्य मानते हैं। जब तक मन शान्त नहीं होता, आन्तरिक शुद्धि नहीं होती, तब तक यम-नियम का पालन स्वाभाविक रूप से किसी के लिये संभव नहीं है। यदि शरीर शुद्धि और प्रारम्भिक प्रक्रियाओं

का पालन किये बिना हम यम-नियम का पालन करने का प्रयास करते हैं, तो अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

गधे को शेर की खाल पहना दें तो भी वह गधा ही रहेगा, शेर नहीं बन जायेगा। इसी तरह बिना पूर्व तैयारी के, बिना आन्तरिक अनुशासन के, बिना मानसिक अनुशासन के यदि आप यम-नियम को ओढ़ते हैं तो किसी भी क्षण आपकी आन्तरिक अनुशासनहीनता आपका भंडाफोड़ कर ही देगी। इसलिए मैं कहता हूँ कि योग का प्रारम्भ शरीर से हो। शारीरिक संतुलन प्राप्त करने के बाद मन के क्षेत्र में प्रवेश किया जाए। मानसिक संतुलन एवं संयम प्राप्त करने के बाद आचार-व्यवहार स्वत: शुद्ध हो जाते हैं। जिस समय भीतर में छल, कपट, ईर्ष्या, क्रोध, कामना, महत्त्वाकांक्षा तथा राग-द्वेष नहीं रह जाएँगे, उस समय ध्यान की अवस्था को प्राप्त करना कठिन नहीं होगा। वह तो क्षण मात्र का अनुभव है। यही है योग की विधि।

समाज में योग का समावेश

आज इसी योग को विश्व के बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक और चिकित्सक अपना रहे हैं। मैं आपको बतलाता हूँ कि विश्व में किस प्रकार योग को जीवन से जोड़ा जा रहा है। पश्चिम के देशों में 1977 से ही योग शिक्षा का अनिवार्य अंग हो गया है। फ्रांस, इंग्लैंड, कनाडा और अमेरिका जैसे देशों में हमारे संन्यासी स्कूलों के शिक्षकों को योग सिखाते हैं, तथा योग प्रशिक्षित शिक्षकगण अपनी-अपनी कक्षा में छात्रों को योग सिखाते हैं। वे कैसे सिखाते हैं? प्रत्येक कक्षा के प्रारम्भ में एक आसन और एक प्राणायाम कराया जाता है। इस प्रकार दिनभर की आठ घंटियों में प्रत्येक घंटी के बाद पाँच मिनट के लिए आसन-प्राणायाम करा दिया जाता है, अर्थात् दिनभर में कुल आठ बार। यह पी.टी. की तरह नहीं होता, बल्कि शैक्षिक प्रक्रिया में ही आत्मसात् कर लिया जाता है। इस प्रयोग को बहुत अधिक सफलता मिली है। आज इसकी इतनी माँग है कि इसी वर्ष नवम्बर मास में यूरोप में योग शिक्षकों की एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया गया है। हम लोग उसमें जाएँगे, और उस समय योग को विश्व स्तर पर शिक्षा में सम्मिलित किया जायेगा। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में योग का प्रवेश हो गया है।

चिकित्सा क्षेत्र में भारत तथा विश्व के अनेक देशों में योग को चिकित्सा पद्धति के रूप में अपनाया जा रहा है। कहीं कैंसर की रोकथाम के लिये, कहीं

मधुमेह के उपचार के लिये, कहीं पर उच्च रक्तचाप नियंत्रण हेतु तो कहीं पर दमा के उपचार हेतु। अन्य रोगों के उपचार के लिये भी योग का व्यापक रूप से उपयोग हो रहा है। बिहार में स्वास्थ्य विभाग के सभी डॉक्टरों को योग का प्रशिक्षण लेने का आदेश हुआ है। बिहार के लगभग सोलह हजार सरकारी सेवारत डॉक्टर अब योग का प्रशिक्षण अनिवार्य रूप से प्राप्त करेंगे। अभी भागलपुर चिकित्सा महाविद्यालय में डॉक्टरों का योग प्रशिक्षण सत्र चल रहा है, जिसका संचालन आश्रम के संन्यासी कर रहे हैं।

तीसरा क्षेत्र जहाँ योग की आवश्यकता महसूस की गयी है, वह है जेल। ऑस्ट्रेलिया तथा भारत के विभिन्न राज्यों में बन्दियों के व्यक्तित्व-परिवर्तन हेतु योग का प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

इन सबसे ऐसा प्रतीत होता है कि आज विश्व ने योग की महत्ता और गुणवत्ता को समझा है तथा उसे एक जीवन विज्ञान के रूप में स्वीकार कर लिया है। शिक्षा, चिकित्सा, व्यक्तित्व-परिवर्तन इत्यादि के क्षेत्र में अनेक शोध कार्य भी चल रहे हैं। देखा जा रहा है कि ध्यान की अवस्था में चेतना में क्या परिवर्तन होता है, जप के समय क्या परिवर्तन होता है। योग जिन तथ्यों का दावा करता है वह भ्रान्ति है या वास्तविकता, इस पर शोध हो रहा है।

अब योग को तो जीवन का एक अंग बनना ही है। हमें पूर्ण विश्वास है कि योग प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य अंग होगा। उस समय मानव जीवन में एक क्रान्ति आयेगी, समाज में क्रान्ति आयेगी, और योग पूरे समाज में ही परिवर्तन कर देगा। विगत विश्व योग सम्मेलन में भारत के थल सेनाध्यक्ष जनरल बी.सी. जोशी आये थे, और उन्होंने अनुरोध किया है कि सेना को योग का प्रशिक्षण दिया जाए, ताकि वह अपनी क्षमता बढ़ा सके। सैनिकों को ऊँचे पहाड़ों पर रहना पड़ता है, सूखे मरुस्थलों में रहना पड़ता है। अत: उनकी कुछ मानसिक एवं भावनात्मक समस्याएँ होती हैं। सैनिकों की इन समस्याओं के समुचित समाधान हेतु योग का प्रवेश सुरक्षा सेना में हो रहा है।

इस प्रकार जीवन का चाहे जो क्षेत्र हो–व्यावसायिक, तकनीकी, आध्यात्मिक, चिकित्सात्मक या शैक्षिक, उसमें योग का प्रयोग किया जा सकता है। आपका नगर जबलपुर, जो मध्य प्रदेश की संस्कारधानी है, योग के प्रचार-प्रसार में सबसे आगे आ रहा है। आज यहाँ से सम्पूर्ण भारत को योग का संस्कार प्राप्त हो रहा है।

समग्र व्यक्तित्व और योग

आधुनिक मनोविज्ञान में मानव व्यक्तित्व को चार भागों में बाँटा गया है– श्रम-प्रधान, भाव-प्रधान, बुद्धि-प्रधान और अन्तर-जाग्रत। हर मनुष्य इन चार अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था को अधिक महत्त्व देता है। जो श्रम-प्रधान है वह शारीरिक श्रम को अधिक महत्त्व देता है। इसी तरह भावना-प्रधान व्यक्ति भावनाओं को, बुद्धि-प्रधान व्यक्ति बुद्धि को और अन्तर-जाग्रत मनुष्य आत्म-विश्लेषण एवं आत्म-चिन्तन को अधिक महत्त्व देता है। यह बात सच भी है कि जैसा हमारा व्यक्तित्व रहता है, हम अपने स्वभाव, चरित्र, गुणों और विचारों का वैसा ही प्रयोग करते हैं। एक श्रम-प्रधान मनुष्य की, जिसे गत्यात्मक व्यक्तित्व कहा जाएगा, मानसिकता अन्य प्रकार के व्यक्तित्व से भिन्न होगी। उसके विचार, उसके आचरण, उसके कर्म भिन्न होंगे। एक भावुक पुरुष के विचार और स्वभाव अन्य प्रकार के होंगे।

गुणों का प्रभाव

ऐसे मनुष्य बहुत ही कम हैं जिनमें इन चारों का सुन्दर समन्वय हो। जिनके जीवन में इन चारों का सुन्दर समन्वय हो जाता है वे मात्र मानव नहीं रह जाते, महामानव बन जाते हैं। एक बात हम आपको बतलाना चाहेंगे कि मनोविज्ञान ने इन चार अवस्थाओं को तो निश्चित कर दिया है, लेकिन योग एक कदम और आगे जाता है। योग कहता है कि इन चार अवस्थाओं में भी विभिन्न गुणों का प्राधान्य रहता है। इस प्रकार श्रम-प्रधान मनुष्य में कभी तो सात्त्विक स्वभाव का प्राधान्य होता है, कभी तामसिक स्वभाव का तो कभी राजसिक स्वभाव का।

इसी प्रकार भावना-प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान मनुष्यों में भी ये तीन विभाजन, ये तीन विशेषताएँ दिखायी देती हैं– सात्त्विक, राजसिक और

तामसिक। सात्त्विक वृत्ति प्रबल है तो मनुष्य की भावना ईश्वरोन्मुख होगी। तामसिक वृत्ति प्रबल होने पर उसकी भावना पतनोन्मुख होगी। एक छुरी के भीतर भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुण हाते हैं। वैसे गुण तो हैं प्रयोग करने वाले में, लेकिन वही गुण छुरी के माध्यम से प्रकट होते हैं। अगर मनुष्य छुरी से किसी की हत्या कर दे, तो छुरी का प्रयोग तामसिक होता है। छुरी का प्रयोग करने वाला अगर उसके माध्यम से किसी की जान बचा दे, तो यह छुरी का सात्त्विक प्रयोग होता है। ठीक इसी प्रकार से खोपड़ी की बात है। बुद्धि के विषय में तो इतना कहा जा चुका है कि मैं और कुछ कहकर आपको अधिक भ्रमित नहीं करना चाहूँगा। लेकिन एक बात अवश्य कहूँगा कि जिन गुणों का प्रयोग आप अपने जीवन में करते हैं, जिस स्वभाव के वश में आकर आप अपने जीवन को एक दिशा में ले जाते हैं, उसके प्रति जागरूक रहिए।

तमोगुण

मनोविज्ञान तो इतना कहकर चुप हो जाता है। परन्तु योग यह कहकर प्रेरणा देता है कि आप स्व-अनुभव प्राप्त करें। लेकिन एक और विज्ञान है, एक और विद्या है जो एक कदम आगे जाती है। वह विज्ञान क्या है? वह विद्या कौन-सी है? वह विज्ञान कहता है कि चाहे मनुष्य बुद्धिजीवी हो, या भावुक, श्रम-प्रधान अथवा अन्तर-जाग्रत, उसके व्यक्तित्व में वृत्तियाँ बनी हुई हैं, और ये वृत्तियाँ उसके व्यवहार को संचालित करती हैं। बिना वृत्ति के संसार में कोई कार्य नहीं होता। प्यास लगती है तो बुद्धि में स्पष्ट विचार उत्पन्न नहीं होता कि मुझे प्यास लगी है, और प्यास को बुझाने के लिए मुझे जल की आवश्यकता है। जल कहाँ से मिलेगा, इस प्रकार के विचार नहीं आते। एक सहज वृत्ति की उत्पत्ति होती है, और सहज वृत्ति के आधार पर हम पानी की खोज में निकल पड़ते हैं। इसमें सहज वृत्ति प्रधान है, या बुद्धि? जब स्वभाव वश कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जैसे एक मक्खी आकर हमारे ऊपर बैठे तो अचानक हाथ उठ जाता है। यह तो सहज वृत्ति है। इसमें विचार शृंखला नहीं जुड़ी है। हम यहाँ पर बैठे हैं, बगल में अगरत्ती जल रही है, उसकी गरम राख गिरती है, और बगल में रखा कपड़ा जलने लगता है तो आग को बुझाने के लिए हाथ तुरंत वहाँ चला जाता है। यह तो सहज वृत्ति है। बुद्धि की सहज वृत्ति क्या है? भावना की सहज वृत्ति क्या है? श्रम-प्रधान मनुष्य में किस प्रकार की वृत्तियाँ रहती हैं? जिस वृत्ति

की यहाँ पर बात हो रही है वह मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, सहज बुद्धि नहीं। सहज बुद्धि का अर्थ चाहे जो हो, लेकिन सहज वृत्ति का सम्बन्ध हमारी पशु प्रवृत्ति से रहता है।

हमारे भीतर एक प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया होती है, जो बुद्धि-विलास से परे है, चेतना के विभिन्न आयामों से परे है, और यह तात्कालिक होती है। इसका अनुभव तत्क्षण हाता है। एक क्रमिक अनुभव के रूप में नहीं, एक तात्कालिक अनुभव के रूप में। श्रम-प्रधान व्यक्ति के जीवन में जो मूल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वह तामसिक है। भावना-प्रधान मनुष्यों के जीवन में जो मूल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह भी तामसिक है। बुद्धि-प्रधान मनुष्यों के जीवन में जो मूल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह तामसिक है, तथा अन्तर-जाग्रत मनुष्यों के जीवन में जो मूल प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे भी तामसिक हैं। तामसिक का अर्थ यहाँ पर आप नकारात्मक रूप में मत लीजिए। तमस् का अर्थ होता है स्थिति, स्वभाव। मान लीजिए आप एक बीज को जमीन में डाल देते हैं, पर उसकी देख-भाल नहीं करते। न उसे खाद देते हैं, न पानी देते हैं, न जमीन की मोटी और कड़ी परत की गुड़ाई करते हैं, और वह बीज वहाँ सालों तक दबा रहता है। यह स्थिति है तमस् की। अर्थात् एक अवस्था जिसका विकास नहीं हुआ है, जिसका सम्बन्ध अभी एक अनुभव से, मन और बुद्धि से नहीं जुड़ा है। लेकिन कभी-कभी चित्त में, या अहंकार में वह एक क्षण के भीतर प्रकट हो जाती है। और इसी को कहा गया है 'स्थितिशीलत्व' का स्वभाव।

तमस् को योग अंधकार के रूप नहीं देखता, अज्ञान के रूप में नहीं देखता। यह तो बोल-चाल की भाषा में हम बोल देते हैं। लेकिन योग तमस् को उस अवस्था के रूप में देखता है जिसमें विकास की प्रक्रिया रुकी हुई है, दबी हुई है, छुपी है। और जब ये मूल प्रवृत्तियाँ जीवन में जाग्रत होती हैं तब महत्त्वाकांक्षाओं की वृद्धि होती है, वासनाओं की वृद्धि होती है, प्राप्त करने की उत्पत्ति होती है, दबाव की उत्पत्ति होती है।

तामसिक व्यक्तित्व में असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती रहती है, निराशा और चिन्ता की भावना उत्पन्न होती रहती है। इस प्रकार के व्यक्तित्व को हम लोग कहते हैं पशु स्वभाव। पशु स्वभाव का तात्पर्य पशु से नहीं, बल्कि इसका मतलब होता है सहजात प्रवृत्ति। इसी से तनाव एवं परेशानी की उत्पत्ति होती है। आप इस बात को याद रखिए कि तनाव और परेशानी में अन्तर है। आप परेशान हो जाएँ तो क्या होगा? विक्षिप्त हो जाएँगे, किंकर्तव्यविमूढ़ हो

जाएँगे, यह है दबाव या परेशानी की निशानी। तनाव में मन खिंच जाता है, दबाव में मन परेशान हो जाता है। और यही तामसिक या पशु वृत्ति है।

रजोगुण

अब दूसरी अवस्था आती है, जिसको बालचाल की भाषा में राजसिक कहते हैं। बोलचाल की भाषा में आप यह भी कह सकते हैं कि अनुभूति की वह स्थिति राजसिक है, जो 'स्व' से जुड़ जाती है, 'मैं' से जुड़ जाती है। राजसिक नाम क्यों पड़ा? राजसिक भाषा में 'मैं' प्रधान रहता है। मैं राजा हूँ, मैं शासक हूँ, मैं नियंत्रक हूँ – यह भाव प्रधान रहता है। वह अनुभूति जो 'स्व' के साथ जुड़ जाए, और 'स्व' के अनुभव को गति दिलाए, जिसके द्वारा 'स्व' में क्रिया की उत्पत्ति हो, उसे कहते हैं राजसिक।

राजसिक का एक दूसरा नाम भी है, क्रियाशीलत्व या क्रियास्वभाव, जिसमें 'स्व' से जुड़कर क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्षेत्र में मनुष्य अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं रखता, वह मात्र आत्म-सुरक्षा, आत्म-संतुष्टि के विचार के साथ आगे बढ़ता है। और यहाँ पर भी तनाव और परेशानियाँ उत्पन्न होती हैं। इससे संबद्ध तनाव और परेशानी का स्वरूप राजसिक होता है। बहुत बार तो लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि स्वामीजी मैं यह बनना चाहता हूँ, मैं यह करना चाहता हूँ। जो कुछ बनना चाहते हैं, जो कुछ करना चाहते हैं, वह तो स्वयं से जुड़े हुआ है। इसी कारण उन्हें अल्सर, हर्निया, रक्तचाप इत्यादि बीमारियों का सामना करना पड़ता है। यह राजसिक स्वरूप है।

जब खुद की इच्छा रख कर अपने हित के लिए, अपनी तुष्टि के लिए, अपने स्वार्थ के लिए हम क्रिया करते हैं, तो उसके जितने परिणाम होते हैं, वे राजसिक होते हैं। लेकिन यहाँ पर राजसिक में बुद्धि और विचार का सम्बन्ध जुड़ता है। विचार और बुद्धि का सम्बन्ध जहाँ हो जाए, वहाँ विलास की प्रक्रिया शुरू होती है। बुद्धि विलास की स्थिति रहती है रजस् की, और इस रजस् की प्रक्रिया में जब 'स्व' को शक्तिशाली मानकर मनुष्य कर्म की ओर अग्रसर होता है तो उसके जीवन में एक अन्य अवस्था की उत्पत्ति होती है, जिसको कहते हैं वीर अवस्था या वीर स्वभाव। आप अपने आपको सुखी-सम्पन्न रखने के लिए पुरुषार्थ नहीं करते हैं क्या? संघर्ष नहीं करते हैं क्या? परिस्थितियों से नहीं जूझते हैं क्या? यह है आपका वीर स्वभाव। आप चुपचाप बैठे नहीं रहते, और अगर अपने प्रयत्न से काम नहीं होता तो पैरवी

कराकर काम कराना चाहते हैं। जिस प्रकार अर्जुन ने शिखण्डी को सामने खड़ा कर भीष्म पितामह पर बाण चलाया था, उसी प्रकार आप पैरवी करने के लिए किसी को सामने रखते हैं, और उसी के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। इसको कहते हैं वीर स्वभाव। गत्यात्मक व्यक्तित्व में भी, भावनात्मक व्यक्तित्व में भी, बौद्धिक व्यक्तित्व में भी, और अन्तर-जाग्रत व्यक्तित्व में भी यह स्वभाव दिखायी देता है। योग में भी बहुत बार लोग वीर स्वभाव के साथ आते हैं। आसन करने लगते हैं तो कहते हैं कि मैं अपने पैर को छू नहीं पाता, आज छूकर ही रहूँगा। जोर लगाकर प्रयास करते हैं, जिससे उनके मेरुदण्ड में स्लिप-डिस्क हो जाता है, उनकी कमर में दर्द हो जाता है।

बहुत बार ऐसे लोग भी आते हैं जो कहते हैं कि आसन को सिद्ध करने के लिए हठ करना है। एक बार एक आदमी मेरे पास आया। उसके पैरों में भयंकर दर्द हो रहा था। उसने कहा, 'स्वामीजी, आसन करने से मेरे पैरों में दर्द होने लगा।' मैंने पूछा, कैसे? उसने कहा कि मैं तितली आसन कर रहा था, लेकिन मेरे घुटने जमीन से एक फुट ऊँचे थे, तो मैंने अपने दो बच्चों को, जिनकी अवस्था क्रमश: बारह और तेरह साल है, कहा कि तुम मेरे घुटनों पर बैठ जाओ। और वे धीरे से बैठने की बजाय भच् से बैठ गए। और जैसे ही वे नीचे आए ये महाराज जी ऊपर हो गए। ये हैं तामसिक वीर। जो सात्त्विक वीर होता है वह शनै: शनै: अभ्यास करते-करते घुटनों को जमीन से सटाने का प्रयास करता है। जो घटना मैंने आपको सुनायी वह सत्य घटना है। मैंने यह उदाहरण इसलिए बताया कि आप यह जानें कि हम लोग किसी चीज को प्राप्त करने के लिए, किसी अभ्यास को सिद्ध करने के लिए जो जोर लगाते हैं वह तामसिकता है। जब हम एक महत्त्वाकांक्षा को रखकर जोर लगाते हैं तब वह सफल नहीं होता, लेकिन महत्त्वाकांक्षा प्रबल बनी रहती है। यह राजसिकता है। और जब मात्र सहज भाव से कर्म होता है, तब उसमें सात्त्विकता है।

सत्त्वगुण

अब सात्त्विकता पर चर्चा करेंगे। सात्त्विक का अर्थ संसार से विरक्त रहने वाला मनुष्य नहीं। ऐसा मत सोचिए कि यह व्यक्ति सात्त्विक है क्योंकि न प्याज खाता है, न लहसुन खाता है, न कभी सिगरेट पीता है, न गांजा पीता है, न मांस खाता है। यह तो सात्त्विक आहार है। यह अलग चीज है।

सात्त्विक का अर्थ होता है प्रकाशशीलत्व, प्रकाश-स्वभाव। वह मनुष्य जो विद्या के प्रकाश में रहता है। विद्या शब्द की उत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है। विद् का अर्थ होता है जानना। जानने की प्रक्रिया में ज्ञान है या अज्ञान? जानने की प्रक्रिया अचेतन है या चेतन? जब आप कहते हैं कि मैं इस बात को जानता हूँ, लेकिन आपके कर्म उस ज्ञान के अनुरूप नहीं होते, तो जानने की यह प्रक्रिया अचेतन है। और जब आप कहते हैं कि मैं जानता हूँ, और वैसा ही कर्म करते हैं, तो वह ज्ञान चेतन है। उसी ज्ञान को सात्त्विक नाम दिया गया है, प्रकाश-शीलत्व कहा गया है।

तो चाहे किसी प्रकार का व्यक्तित्व क्यों न हो, इन तीन अवस्थाओं से उसका सम्बन्ध जुड़ा रहता है। बुद्धिजीवी मनुष्य भी, श्रमिक मनुष्य भी, भावुक मनुष्य भी, और अन्तर-जाग्रत मनुष्य भी इन तीनों अवस्थाओं से जुड़ा हुआ है।

अब आप पूछेंगे कि बुद्धिजीवियों को कौन-सा योग करना है। सबसे पहले आप यह निश्चित कर लीजिए कि आप किस प्रकार के बुद्धिजीवी हैं, तामसिक, राजसिक या सात्त्विक। क्यों? इसका कारण मैं पहले बता चुका हूँ। आपको उस प्रकार का योग प्रारम्भ करना है, क्योंकि लक्ष्य होना है कि हम तामसिक बुद्धिजीवी नहीं, सात्त्विक बुद्धिजीवी बनें। लक्ष्य होना है कि हम तामसिक नहीं, सात्त्विक श्रम-प्रधान मनुष्य बनें। लक्ष्य होना है कि हम तामसिक नहीं, सात्त्विक भावना-प्रधान मनुष्य बनें। लक्ष्य होना है कि हम तामसिक नहीं, सात्त्विक अन्तर्जाग्रत मनुष्य बनें। तामसिक अन्तर्जाग्रत मनुष्य वे होते हैं जो स्वयं ही अपने महान् होने का दावा करते हैं। कहते हैं, मैं यह कर दूँगा, मैं वह कर दूँगा। जो ज्ञानी और विद्वान् मनुष्य अपने आपको बड़ा मानता है, वह तामसिक अन्तर्जाग्रत है। और जो अपने आपको बड़ा नहीं मानता, बल्कि सेवा में रत रहता है, मान-अपमान, उपकार-अपकार की चिन्ता नहीं करता, वह सात्त्विक अन्तर्जाग्रत मनुष्य होता है।

यह आपका लक्ष्य होना है। आप निश्चित कर लीजिए कि आप किस श्रेणी में आते हैं। और जिस श्रेणी में आते हैं, उस श्रेणी से अपने आपको अधिक पूर्ण और शुद्ध बनाने का प्रयास करना होगा। अगर तामसिक श्रेणी में आते हैं, तो राजसिक में आने का प्रयत्न कीजिए। अगर राजसिक में आते हैं, तो सात्त्विक में आने का प्रयास कीजिए।

योग और महिलाएँ

स्त्रियों के लिए योग अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक विकास की जिस अवस्था में शरीर की सभी ग्रन्थियाँ विकासोन्मुख होकर अपना कार्य संयत रूप से करने लगती हैं, उस अवस्था में योग के कुछ अभ्यास करने से शरीर की आन्तरिक प्रक्रियाएँ सुचारु रूप से सम्पन्न हाती हैं। ये कौन-से अभ्यास हैं? शरीर की ग्रन्थियों के ठीक तरह से कार्य करने के लिए कुछ आसनों का अभ्यास आवश्यक है।

शरीर और मस्तिष्क के लिए योगाभ्यास

आसनों में सर्वप्रथम सूर्य नमस्कार, दूसरे स्थान पर सर्वांगासन तथा तीसरे पर ताड़ासन का अभ्यास बालिकाओं और बालकों के लिए भी, अत्यन्त उपयोगी माना गया है। देश-विदेश में जो शोध इस दिशा में हो रहे हैं, उनके अनुसार लगभग दस वर्ष की अवस्था में, तथा उसके पश्चात् प्रत्येक बीस वर्ष के अन्तराल पर शरीर की ग्रन्थियाँ अपने कार्यों में परिवर्तन लाती हैं। पहला परिवर्तन आठ से बाहर वर्ष की अवस्था में हम अनुभव कर सकते हैं। यह भी पाया गया है कि बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में परिपक्वता जल्दी आती है। जितनी अन्त:स्रावी-ग्रंथियाँ हैं, जिनसे रसायनों का उत्पादन होता है, वे बालिकाओं के शरीर में अपेक्षाकृत शीघ्र क्रियाशील हो जाती हैं। इसीलिये इन आसनों का प्रावधान किया गया है, जिससे शरीर पर इनका सकारात्मक प्रभाव पड़े।

इसके साथ ही मस्तिष्क को संचालित करने के लिए प्राणायाम का प्रावधान किया गया है। प्राणायाम के द्वारा मस्तिष्क की कोशिकाओं में ऑक्सीजन-युक्त रक्त की आपूर्ति हाती है। मस्तिष्क की कोशिकाओं को दो चीजों की

आवश्यकता होती है। पहला रक्त-संचार, जिससे ऑक्सीजन की आपूर्ति हो, और दूसरा है मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों में संतुलन। विज्ञान बतलाता है कि हमारा मस्तिष्क दो भागों में बँटा है, दाहिना गोलार्द्ध और बायाँ गोलार्द्ध। मस्तिष्क का दाहिना भाग हमारी बुद्धि तथा बायाँ भाग कला के विकास के लिये उत्तरदायी है।

बुद्धि का विकास एक सीधी रेखा में होता है, अर्थात् तर्क शास्त्र में एक विचार शृंखला को पकड़ कर आगे बढ़ा जाता है। इस प्रकार एक विचार शृंखला को पकड़ना, मन की विवेक शक्ति, बौद्धिक शक्ति को एक दिशा प्रदान करना मस्तिष्क के एक गोलार्द्ध का काम है। साथ ही कला में प्रवीणता का, चाहे वह कोई कला हो, कार्य दूसरा गोलार्द्ध करता है। अत: इन दोनों में सामंजस्य और संतुलन का होना परमावश्यक है। हमारे व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु प्राणायाम के भी अभ्यास बताये गये हैं। बाल्यावस्था में आसन-प्राणायाम आवश्यक हैं, और जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती है, वैसे-वैसे अभ्यास बदलते हैं, आसन और प्राणायाम बदलते हैं।

जब हम विद्यार्थी जीवन में रहते हैं, अध्ययन आदि चलता है उस समय एकाग्रता प्राप्त करने हेतु कुछ अन्य उपायों को भी अपनाया जाता है। एकाग्रता के विकास हेतु उत्तम अभ्यास है 'त्राटक'। मन में उठ रहे विचारों और भावनाओं के प्रबल प्रवाह को शान्त करने हेतु दूसरा उत्तम उपाय है 'अन्तर्मौन'। यह प्रत्याहार की क्रिया है। अत: विद्यार्थी जीवन में इन दोनों अभ्यासों को अपनी दिनचर्या में शामिल करना आवश्यक है।

कर्मों और भावनाओं का प्रबन्धन

अवस्था बढ़ने पर शादी के पश्चात् लड़कियाँ अपना घर छोड़ ससुराल जाती हैं, तब उनकी जीवन-पद्धति में परिवर्तन आता है। उस समय योग के विभिन्न अभ्यासों को अपनाना चाहिए। घर के कार्यों से तो हम सब अवगत हैं ही, बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि एक बार घर की चहारदीवारी में बन्द हो जाने के बाद स्त्रियों का शारीरिक-श्रम सीमित हो जाता है। यह सामान्य बात है। पर आज जो परिवर्तन समाज में आ रहे हैं, उनके कारण समाज भी नवीन दृष्टि को अपना रहा है। आज स्त्रियाँ बड़े-बड़े दायित्व के पदों पर, यहाँ तक कि सेना और पुलिस में भी काम करने लगी हैं। परन्तु जो सामान्य बात विश्वभर में देखी जाती है, वह यही कि गृहिणी का कार्यक्षेत्र घर के ही परिवेश में सीमित

हो जाता है। उन्हें अन्य प्रकार के दायित्व भी निभाने पड़ते हैं। बच्चों का पालन-पोषण, घर-गृहस्थी संभालना और तत्सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना, सब कुछ गृहिणी के सर पर आ जाता है। समस्याएँ सभी प्रकार की होती हैं, शारीरिक, मानसिक, विचारात्मक, भावनात्मक एवं सामाजिक भी। इन समस्याओं से निपटने तथा अपना आन्तरिक संयम बनाये रखने के लिए भी योग के कुछ अंग हैं, जिनकी चर्चा की गयी है। पहला है, अपनी भावना का परिवर्तन। अपने कार्यों को बोझ न मानकर, उन कार्यों और उत्तरदायित्वों को कर्म योग के रूप में अपनाना चाहिए।

पूर्व में कहा गया है कि जब मानसिक भावनाओं में यह परिवर्तन आता है तभी चित्त शान्त रहता है। यह स्थिति केवल स्त्रियों की नहीं, पूरे समाज की है। हम अपने विचारों और भावनाओं को संयत नहीं रख पाते। अनेक बार तो कोई भावना मन में पनपती है बीज रूप में, और अंकुरित हो एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेती है। इस भावना के साथ हमारी अपेक्षाएँ, कामनाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ भी जुड़ी रहती हैं। फिर इच्छाएँ और उनसे उत्पन्न तनाव और परेशानियाँ जुड़ जाती हैं। जब इन इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को हम दबा देते हैं तब सही रूप से मानसिक शान्ति और संतुलन प्राप्त नहीं होता।

जीवन में चार चीजें अत्यन्त महत्त्व की हैं। पहली है हमारी आवश्यकता, दूसरी है हमारी कमजोरियाँ, तीसरा है हमारी क्षमताएँ और अन्तिम है हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ। बहुत बार परिस्थितिवश हम अपनी महत्त्वाकांक्षा को दबा देते हैं। अपनी आवश्यकताओं को पूर्णरूप से नहीं समझ पाते। उन्हें ही अपने जीवन का उद्‌देश्य मान लेते हैं। अपनी क्षमताओं का सही रूप से उपयोग नहीं कर पाते। अपनी कमजोरियों के कारण हमारे भीतर ग्लानि का भाव उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी अपराध बोध उत्पन्न हो जाता है।

यौगिक दिनचर्या

एक गृहिणी के जीवन में उसके सामर्थ्य, कमजोरी, महत्त्वाकांक्षा और आवश्यकता, चारों को संयत एवं संतुलित रखने की आवश्यकता होती है। इन चारों को संयत रखने हेतु योग कहता है कि हमें ऐसी दिनचर्या अपनानी चाहिए, जिसमें हम स्वयं को देख सकें, स्वयं का निरीक्षण कर सकें। अगर कहीं पर किसी प्रकार की भूल हो रही है, कमजोरी है, तो उसे दूर कर सकें।

अपने सामर्थ्य को, अपनी शक्ति को इस दृष्टिकोण से बढ़ा सकें, और उस जीवन-पद्धति को अपनायें जिसमें हमें आनन्द और शान्ति का अनुभव हो। इस नयी जीवन-पद्धति को अपनाने के क्रम में अपने भीतर कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

बहुत बार सही रूप से शारीरिक श्रम भी नहीं हो पाता, क्योंकि गृहिणी को प्रात:काल उठते ही बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजना पड़ता है। इसकी चिन्ता, परिवार का खाना बनाने की चिन्ता, बच्चों की शिक्षा की चिन्ता, सब मिलकर एक गृहिणी को परेशानी में डाल देते हैं। अब ऐसी परिस्थिति में अपनी दिनचर्या में कैसा परिवर्तन लाना है, इसे समझ लेना चाहिए। प्रात:काल सर्वप्रथम अपना योगाभ्यास करना है, जिससे शरीर के सभी अंगों में नवशक्ति एवं प्राण का संचार हो जाए। पवनमुक्तासन के अभ्यास मौलिक अभ्यास हैं, जिनसे शरीर के सभी अंगों में प्राण शक्ति का संचार हो जाता है। सभी अंगों का तनाव एवं कड़ापन दूर हो जाता है। सभी मांसपेशियों का भी व्यायाम हो जाता है। सिर से पैर तक शरीर के सभी अंग ठीक से काम करते हैं, उनकी पेशियों में कड़ापन और थकान नहीं रहती। पवनमुक्तासन के आसनों से शरीर के विभिन्न केन्द्रों में, जोड़ों में, जहाँ-जहाँ वायु का प्रकोप हो, उसे दूर किया जा सकता है। इन आसनों का लाभ इतने तक ही सीमित नहीं है। इनके लाभ दूरगामी हैं। ये आसन सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के संचार को भी नियमित कर देते हैं।

आसनों के पश्चात् थोड़ा प्राणायाम का अभ्यास उचित है। वैज्ञानिकों ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि हमारे श्वसन का सम्बन्ध हमारे तंत्रिका-तंत्र से रहता है। तंत्रिका-तंत्र में जब उत्तेजना का अनुभव होता है, उसकी प्रतिक्रिया हमारे श्वसन में भी दिखायी पड़ती है। पर जब हमारा तंत्रिका-तंत्र विश्रांत अवस्था में रहता है तब उस अवस्था का अनुभव भी हमारे श्वसन में होता है। मस्तिष्क, मन या तंत्रिका-तंत्र में उत्तेजना होने पर श्वास की गति, उसकी लम्बाई और श्वसन विधि बदल जाती है। पर जब मन में शान्ति हो, एकाग्रता हो तब वह भी हमारी श्वसन प्रक्रिया में परिलक्षित होती है। अत: तंत्रिका-तंत्र और मस्तिष्क को विश्रांत रखने हेतु, मन को शान्त एवं एकाग्र रखने हेतु प्राणायाम के अभ्यास का निर्देश दिया गया है।

इनके पश्चात् रात्रि में जब सभी कार्य निपटाकर आप सोने जाती हैं तब शिथिलीकरण का अभ्यास करना चाहिए। इसे हम योगनिद्रा कहते हैं।

गर्भावस्था और योग

इसी प्रकार गर्भावस्था में योग के अन्य निर्देशों का पालन करना होता है, क्योंकि उस समय आपको दो प्राणियों की देखभाल करनी है, एक तो खुद की, और दूसरे अपने गर्भस्थ शिशु की। विदेशों में आजकल धूम्रपान और मद्यपान न करने की सलाह दी जा रही है। खैर, भारत में तो ऐसा होता ही नहीं, पर विदेशों में, जहाँ इसका प्रचलन महिलाओं में भी है, डॉक्टर इस बात पर जोर दे रहे हैं कि गर्भावस्था में माता को मादक द्रव्यों का सेवन बिलकुल नहीं करना चाहिए। इसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। कभी-कभी प्रतिक्रिया स्वरूप नवजात शिशु में विकलांगता भी देखी जाती है। विदेशी वैज्ञानिक कहते हैं कि गर्भावस्था में किसी प्रकार के कुविचार, क्रोध, निराशा आदि मन में नहीं आने चाहिए। जहाँ तक हो सके, हर्ष और विषाद के समय समभाव धारण करना चाहिए। ये बातें जो आज विदेशी वैज्ञानिक कह रहे हैं, यह तो पूर्व से हमारी परम्परा रही है। अभिमन्यु और अष्टावक्र की कथा तो आप जानती हैं। गर्भावस्था में जो संस्कार उन्हें मिले, उनके कारण ही उनकी प्रतिभा अद्वितीय रूप से व्यक्तित्व में प्रकट हुई। गर्भ में हमें जो संस्कार अपनी माता से मिलते हैं, उन्हीं के अनुसार हमारा जीवन बनता और बिगड़ता है। गर्भावस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें माताएँ वास्तव में सृजन का कार्य करती हैं। उस समय यदि वैचारिक एवं भावनात्मक संतुलन प्राप्त हो जाए, तो गर्भस्थ शिशु पर उसका उत्तम प्रभाव पड़ता है। योग का कहना है कि इस समय शक्तिबन्ध के आसनों का अभ्यास किया जाना चाहिए। प्रत्याहार और धारणा की विभिन्न क्रियाओं का भी अभ्यास होना चाहिए, जैसे, योगनिद्रा, अन्तर्मौन और अजपाजप। जैसे-जैसे समय बढ़े, गुरु के निर्देशों के अनुसार कुछ अभ्यासों का चयन कर उनका अभ्यास करना उत्तम होता है।

जब तक स्त्रियाँ, विशेषकर माताएँ योग को अपने जीवन का अंग नहीं बनायेंगी, तब तक इतना निश्चित है कि समाज का उद्धार नहीं होगा। समाज के उद्धार की शिक्षा स्कूलों में प्राप्त नहीं होगी, आश्रम में प्राप्त नहीं होगी, और न किसी ग्रन्थ में प्राप्त होगी। यह शिक्षा प्राप्त होगी माता की गोद में। इसमें पिता से भी उतना योगदान नहीं मिलता जितना माता से मिलता है। अतएव मेरा तो यही परामर्श है माताओं को कि अपनी संतान के लिए, समाज के लिए और मानवता के उद्धार के लिए वे स्वयं अपने जीवन में योग को अपनाएँ।

विद्यार्थी और योग

विद्यार्थी जीवन में दो प्रमुख बातें हैं। पहली बात तो यह कि एक विद्यार्थी के जीवन का उद्देश्य या लक्ष्य क्या होना चाहिए। दूसरी बात यह कि मस्तिष्क तथा मन में सामान्यत: जो अवरोध उत्पन्न होते हैं, उनका निराकरण किस प्रकार करना चाहिए। अगर इन दो बातें को समझने का प्रयास करें, तो हम सोच सकते हैं कि किस पद्धति को, किस योग को अपने जीवन में अपनाया जाए ताकि हमारा ध्येय, हमारा लक्ष्य हमें प्राप्त हो।

ब्रह्मचर्य आश्रम

विद्यार्थी को पारम्परिक रूप में ब्रह्मचारी नाम से सम्बोधित किया गया है। ब्रह्मचारी का मतलब होता है, वह व्यक्ति जो ब्रह्म का आचरण करे। और ब्रह्म यहाँ पर ईश्वरीय सत्ता के सन्दर्भ में नहीं कहा गया है। संस्कृत के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'बृंह्' धातु से होती है, जिसका मतलब होता है विस्तार करना, फैलाना। चेतना की वह विस्तृत अवस्था जिसमें मनुष्य ज्ञानार्जन करता है, और अपने जीवनक्रम में उस ज्ञान का सही प्रयोग करता है। यही वास्तविक शब्द भी है विद्यार्थियों को सम्बोधित करने के लिए। यहाँ पर ब्रह्मचारी का मतलब सम्भोग से दूर रहने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि ऐसा व्यक्ति जिसके भीतर अपने जीवन को सुखद एवं समृद्ध बनाने के लिए ज्ञान-पिपासा हो, और वह ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में आगे बढ़ रहा हो, जिसकी चेतना के विभिन्न आयामों का, बुद्धि का, भावना का विस्तार हो रहा हो, और जिसके परिणाम उसके विचारों तथा व्यवहार में दिखायी दे रहे हों। अगर इसे हम अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं तो हर व्यक्ति, जो मृत्यु होने तक ज्ञान ग्रहण करता रहता है, विद्या ग्रहण करता रहता है, ब्रह्मचारी ही कहलाता है।

अत: हम सब ब्रह्मचारी ही हैं, चाहे हम जिस भी आश्रम में रहें। लेकिन पारम्परिक रूप से ब्रह्मचर्य अवस्था को भी एक आश्रम की संज्ञा दी गयी है। आश्रम की ही संज्ञा क्यों? इसलिए कि जीवन की एक अवस्था तक हम लोग विद्यार्जन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विद्यार्जन की यह प्रक्रिया हमारे व्यक्तित्व के विकास और समाज में प्रतिष्ठा दिलाने में सहायक सिद्ध होती है। यहाँ पर हमने दो वाक्यों का प्रयोग किया है, 'व्यक्तित्व का विकास' तथा 'समाज में प्रतिष्ठा'। जब तक मनुष्य के व्यक्त्त्वि का विकास नहीं होता, वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। व्यक्तित्व-विकास का आधार ही है ज्ञान की प्राप्ति। जिस ज्ञान की चर्चा परम्परा में की जाती है वह बौद्धिक ज्ञान नहीं, बल्कि अनुभवगम्य ज्ञान की अवस्था है। ग्रन्थों और साहित्यों को पढ़कर आदमी पी.एच.डी. तो कर सकता है, एक पण्डित तो बन सकता है, लेकिन अनुभव प्राप्त वैज्ञानिक या मनुष्य नहीं बन सकता। भौतिक विज्ञान की पुस्तकों को पढ़कर हम भी भौतिक विज्ञान पर व्याख्यान दे सकते हैं, लेकिन भौतिकी के विशेषज्ञ नहीं बन सकते। इसके लिए अनुभव का होना आवश्यक है। विषय पर अधिकार प्राप्त करने के लिए, विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए ज्ञान के अनुभव को व्यवहार में बदलना होगा। जो ज्ञान को अनुभव में बदल सकता है, वही वास्तविक ब्रह्मचारी है। वास्तव में यही विद्यार्जन करने वाला मनुष्य है। लेकिन इस क्रम में शारीरिक परिवर्तनों तथा पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश के कारण हमारे मन में कुछ तनाव एवं समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो हमारी आन्तरिक ग्रहणशीलता के सामने एक व्यवधान उत्पन्न कर देती हैं। इसका एक सरल उदाहरण मैं आपको देता हूँ।

मानसिक ग्रहणशीलता

एक बार मुझे अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में आमंत्रित किया गया था। उस विश्वविद्यालय में एक प्रयोग किया जा रहा था कि किस प्रकार से विद्यार्थियों की ग्रहणशीलता को बढ़ाया जाए। इस प्रयोग के प्रणेता थे बल्गेरिया के एक वैज्ञानिक, डॉ. लोसानोव। जिस पद्धति को वे विकसित कर रहे थे, उसका नाम था 'साल्ट', अर्थात् 'सिस्टम ऑफ एक्सीलरेटेड लर्निंग एण्ड ट्रेनिंग' (द्रुत शिक्षण एवं प्रशिक्षण की विधियाँ)। उस प्रयोग के दौरान जब उनसे बातचीत हो रही थी तब मैंने योग के सम्बन्ध में ऐसी ही एक बात कही कि मस्तिष्क तथा मन की ग्रहणशीलता का सम्बन्ध श्वास से रहता है। योग इस

बात को स्वीकार करता है। इतना सुनते ही उनके मस्तिष्क में बिजली दौड़ गयी। उन्होंने कहा, 'स्वामीजी, ठीक इसी बात को लेकर हम प्रयोग करेंगे।' उन्होंने विश्वविद्यालय के एक वर्ग के छात्रों को बुलाया और एक पेण्डुलम वाली घड़ी को उनके सामने रखकर उन्हें पेण्डुलम की गति के साथ अपनी-अपनी श्वास की गति को मिलाने का आदेश दिया। उन्होंने छात्रों से कहा कि जब यह पेण्डुलम दाहिनी तरफ जाय, तब तुम श्वास को अन्दर लो, और जब पेण्डुलम बायीं तरफ जाय तब तुम सब श्वास बाहर छोड़ो। उसी पेण्डुलम की गति के साथ छात्रों को अपनी-अपनी श्वास को जोड़ने का निर्देश देकर उन्होंने प्रयोग शुरू किया। प्रयोग में कई दिन लग गए, और अन्ततः जो परिणाम सामने आया वह आश्चर्यजनक था। इसका यह परिणाम प्राप्त हुआ कि जब मनुष्य श्वास छोड़ता है तो उसके मन, विचारों और भावनाओं के अवरोध धीरे-धीरे कम होने लगते हैं, और मानसिक ग्रहणशीलता की वृद्धि होती है। जब मनुष्य श्वास लेता है तो वे अवरोध पुनः खड़े हो जाते हैं, उस समय मानसिक ग्रहणशीलता कम हो जाती है।

इस प्रकार के प्रयोग में उन्होंने पाया कि विद्यार्थियों की ग्रहणशीलता एक महीने के भीतर तीस प्रतिशत बढ़ गयी। जब उन्होंने यह बात हमसे कही, तो हमने कहा कि आपने तो विद्यार्थियों को प्राणायाम करवाया है। और यह बात सत्य भी है। इसे आप शारीरिक स्तर पर भी अनुभव कर सकते हैं कि श्वास लेने पर हमारी आन्तरिक तन्त्र-तन्त्रिकाएँ तनाव की अवस्था में आ जाती हैं, फैल जाती हैं। उनका विस्तार हो जाता है, फेफड़े फैल जाते हैं, नाड़ियाँ फैल जाती हैं। शारीरिक तनाव की यह अवस्था मस्तिष्क को प्रभावित करती है, क्षण मात्र के लिए तनाव की उत्पत्ति होती है, लेकिन यही क्षणिक तनाव मस्तिष्क को प्रभावित करता है। जब हम श्वास छोड़ते हैं तो जैसे-जैसे शरीर के अंग शिथिल होते हैं; वैसे-वैसे मस्तिष्क से तनाव बाहर निकलता है।

आधुनिक शिक्षा में यह 'साल्ट' विधि प्रचलित होती जा रही है, क्योंकि अब यह एक पद्धति के रूप में सामने आ गयी है। इसमें पहले श्वास के साथ, फिर संगीत के साथ समस्वरता स्थापित की जाती है, और फिर कुछ कल्पनात्मक दृश्यों को देखकर मन की ग्रहणशीलता को बढ़ाया जाता है। यह तो इसका बाह्य परिणाम हुआ, लेकिन इसका एक आन्तरिक परिणाम भी होता है। शरीरस्थ परिणाम भी दिखलायी देता है। वह क्या है? भिन्न-भिन्न

अवस्थाओं में शरीर की विभिन्न ग्रन्थियाँ कभी शिथिल पड़ जाती हैं, तो कभी सक्रिय हो जाती हैं। शरीर की इन विभिन्न ग्रन्थियों से हॉर्मोनों का उत्पादन कभी होता है, कभी नहीं होता। इन हॉर्मोनों का असर स्नायु-संस्थान और मस्तिष्क पर पड़ता है। इनके प्रभाव के कारण ही हम मस्तिष्क में शैथिल्य और तनाव की अवस्था का अनुभव करते हैं। साथ-ही-साथ अगर पारिवारिक परिवेश ठीक न हो तो उसका भी प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है।

मस्तिष्क की तरंगें

विज्ञान यह प्रमाणित कर चुका है कि जब मनुष्य बहिर्मुखी अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसका मस्तिष्क और मन चंचल रहते हैं, उसकी दृष्टि इधर-उधर भागती रहती है, शरीरस्थ इन्द्रियों पर उसका नियंत्रण नहीं रहता, चंचलता का प्रभाव अधिक रहता है, तब मस्तिष्क के भीतर 'बीटा' नाम की विद्युत तरंग का प्राधान्य रहता है। अगर वातावरण में तनाव हो तो उस समय भी बीटा तरंग का प्राधान्य रहता है। आप किसी ऐसे घर में जाएँ, जहाँ कलह हो रही हो, कुछ अशान्ति हो तो वातावरण पर तुरंत उसका प्रभाव पड़ेगा, और आप स्वयं को अशान्त एवं चंचल अनुभव करेंगे। और जब जिन्दगीभर हम अशान्ति के परिवेश में रहेंगे तो उसका प्रभाव तो पड़ेगा ही, उसे कौन रोकेगा? यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि जैसे-जैसे मस्तिष्क की गतिविधियाँ शान्त होती हैं, इन्द्रियों की चंचलता कम होती है, विचारात्मक चंचलता कम होती है, वैसे-वैसे मस्तिष्क के भीतर एक नयी तरंग जाग्रत होती है जिसे अल्फा तरंग कहते हैं। अल्फा तरंग शरीर संस्थान की शिथिल अवस्था की द्योतक है। इस अवस्था में हम किसी भी कार्य को सही प्रकार से सम्पादित कर सकते हैं। हम जैसे-जैसे स्वयं को एक बिन्दु पर केन्द्रित करते हैं, जैसे-जैसे हमारा मन एक दिशा में प्रवाहित होने लगता है, हमारी प्राण शक्ति प्रवाहित होने लगती है, वैसे-वैसे एक तीसरी तरंग की उत्पत्ति होती है, जिसे डेल्टा तरंग कहते हैं। यह मन की एकाग्र अवस्था की द्योतक है। विद्यार्जन के लिए अल्फा और डेल्टा का प्राधान्य होना आवश्यक है, और यही अनुभव पाश्चात्य सभ्यता के शिक्षकों ने योग के द्वारा प्राप्त किया है। उनका कहना है कि जब हम स्कूलों में योग सिखाते हैं तो उसे एक शारीरिक प्रशिक्षण के रूप में नहीं सिखाते, बल्कि एक सुव्यवस्थित पद्धति के रूप में सिखाते हैं, जिसका प्रभाव मन और मस्तिष्क पर पड़ता है।

शोध कार्य

सर्वप्रथम शिक्षा के क्षेत्र में योग पर शोध किया गया था। उस समय फ्रांस सरकार ने मुंगेर आश्रम को एक पत्र लिखा था कि आप लोग स्वयं को योग में दक्ष कहते हैं, हमारे यहाँ एक ऐसा विद्यालय है जहाँ के विद्यार्थी अत्यन्त उत्पाती, चंचल और अपराध वृत्ति वाले हैं। हम चाहते हैं कि आप योग के द्वारा उन्हें अच्छे मानव में परिणत कर दें। पूज्य गुरुदेव के आदेश से एक संन्यासी वहाँ गए, और उस विद्यालय के मनोवैज्ञानिकों एंव शिक्षकों से बातचीत की। योग का कार्यक्रम बनाया गया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत विद्यार्थियों को एक आसन और एक प्राणायाम का अभ्यास कराया गया। आसन कौन-सा? आप विश्वास नहीं करेंगे – ताड़ासन। ताड़ासन का अभ्यास बहुत सरल है। पंजों को साथ रखते हुए खड़े हो जाते हैं, हाथों को बाँधकर सिर के ऊपर रख लेते हैं। श्वास लेते हुए शरीर को ऊपर की ओर तानते हैं, और श्वास छोड़ते हुए पुनः भूमि पर आ जाते हैं। इस आसन को हर कक्षा के आरम्भ होने से पूर्व पाँच बार कराया गया। इसके पश्चात् भ्रामरी प्राणायाम सिखलाया गया – कानों को बंद कर, गहरी श्वास अन्दर लेकर गुँजन की आवाज करना। जिस प्रकार भौंरा फूल के पास जाकर आवाज करता है, ठीक उसी प्रकार की आवाज श्वास छोड़ते समय निकाली जाती है। और इस अभ्यास के समय अपनी चेतना को मस्तिष्क के मध्य भाग में केन्द्रित किया जाता है, जहाँ पर पीनियल ग्रन्थि का केन्द्र है। इन दो अभ्यासों के बाद फिर सामान्य पढ़ाई-लिखाई शुरू होती थी।

कुछ महीनों तक मात्र इन दो अभ्यासों के पश्चात् देखा गया कि जो विद्यार्थी चंचल और उत्पाती थे, अपराध करने में आगे रहते थे, वे सब शान्त और स्थिर हो गए थे। उनकी ग्रहणशीलता बढ़ गयी थी। वैज्ञानिकों ने यह बात कही कि ताड़ासन तंत्रिका-तंत्र को ठीक रखता है, क्योंकि सामान्य रूप से हम लोगों की शारीरिक अवस्था हमेशा कुबड़ी रहती है। इसके कारण कमर के क्षेत्र में, छोटी आँतों में, पेट में तनाव की उत्पत्ति होती है। यह तनाव धीरे-धीरे ऊपर की ओर फैलता है, और कन्धों को प्रभावित करता है। कन्धों और गर्दन में दर्द होने लगता है।

जब हम ताड़ासन का अभ्यास करते हैं तो शरीर के सभी केन्द्रों को, जहाँ पर सामान्य अवस्था में तनाव की उत्पत्ति होती है, फैलाकर तनाव दूर किया जाता है। एक विद्यार्थी के लिए, जिसका दिन का अधिकांश समय बैठे-बैठे

बीतता है, यह अभ्यास अत्यन्त उपयोगी माना गया है, क्योंकि इसमें पूरे शरीर का विस्तार होता है और जोड़ों का दबाव दूर हो जाता है। झुक कर पढ़ने से गर्दन और कन्धों में जो दर्द होने लगता है, वह इस अभ्यास से दूर हो जाता है। पाँच-छ: बार इस अभ्यास को करने के पश्चात् मस्तिष्क में सामंजस्य की स्थापना होती है। जब हमारा तंत्रिका-तंत्र विश्राम की अवस्था को प्राप्त करता है, तनाव मुक्त हो जाता है, तब मस्तिष्क भी उससे अवश्य प्रभावित होता है, क्योंकि मस्तिष्क भी हमारे तंत्रिका-तंत्र का ही एक हिस्सा है।

इसके पश्चात् भ्रामरी प्राणायाम के अभ्यास द्वारा उन केन्द्रों को स्पन्दित किया जाता है, जिनका सम्बन्ध शक्ति और चेतना से रहता है। स्मृति में वृद्धि होती है, चंचलता समाप्त होती है, और इस प्रकार योग के अभ्यास धीरे-धीरे बौद्धिक, विचारात्मक और मस्तिष्कीय ग्रहणशीलता में वृद्धि करते हैं। इन्हीं दो अभ्यासों को अगर हम अपने जीवन में नियमित रूप से उतार सकें, तो लाभ-ही-लाभ सामने दिखलायी देगा। इन अभ्यासों के साथ आप शिथिलीकरण के कुछ अभ्यासों, जैसे, योगनिद्रा, अन्तर्मौन और त्राटक को जोड़ दें तो सोने पर सुहागा।



मंत्र योग

मननात् त्रायते इति मंत्रः – वह शक्ति जो मन को बन्धन-मुक्त कर सके, मन को स्वतन्त्र कर सके, आन्तरिक प्रतिभा को विकसित कर सके, मंत्र कहलाती है। लेकिन आन्तरिक प्रतिभा को विकसित करने के लिए पहले एक अन्य अवस्था की प्राप्ति आवश्यक है। वह अवस्था है भोग वृत्ति पर नियंत्रण की। जब तक हम संसार में रहते हैं, और इस संसार के आजीवन सदस्य के रूप में अपना जीवन यापन करते हैं, तब तक भोगों के साथ हमारा सम्पर्क रहता है। चूँकि जन्म से ही हम भोग के वातावरण में पलते हैं, इसलिए भोग की कामना करना हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता है।

भोग की कामना हम अनेक रूपों में करते हैं, कभी आत्म-रक्षा की दृष्टि से, कभी आत्म-संतुष्टि की दृष्टि से, कभी मात्र भोग की दृष्टि से, ताकि इसमें हमें सुख मिले, आनन्द मिले। इसके कारण चंचलता का अनुभव तथा आभास हमें निरन्तर होता रहता है। स्थिरता का हमेशा अभाव रहता है। और जीवन के अन्त में हम कहते हैं, 'हम न इस घाट के रहे, न उस घाट के।'

देखा जाए तो वास्तव में हमारे समस्त तनावों, दुःखों और क्लेशों का मुख्य कारण हमारी यह चंचलता और भोग वृत्ति ही है। भोग तो हमने अपने जीवन में उसी दिन से पाया है जिस दिन हम पैदा हुए थे। लेकिन भोग में योग का अनुभव हम नहीं कर पाए हैं। मन को शान्त करने के पूर्व, मन को स्थिर करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम भोग वृत्ति पर किसी प्रकार का अंकुश लगाएँ।

मन की चंचलता समाप्त हो, उसमें स्थिरता और एकाग्रता का अवतरण हो और भोग वृत्ति पर अंकुश लगे, इसका एकमात्र उपाय है मंत्र। मंत्र स्पन्दन समूह है, ध्वनि समूह है। वास्तव में मंत्र का कोई अर्थ नहीं होता, और जो

मंत्र के अर्थ को जानना चाहते हैं, उनके जीवन में मंत्र का असर भी उतना नहीं होता, जितना नहीं जानने वाले के जीवन में होता है। मान लीजिए किसी का मंत्र है, *'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'* या कोई देवी मंत्र है, या राम मंत्र है, या अन्य कोई मंत्र है, तो सबसे पहले जो धारणा उत्पन्न होती है, वह मंत्र के इष्ट के प्रति होती है। यह एक धार्मिक कल्पना होती है। सोचते हैं कि यह तो शिवजी का मंत्र है, और शिवजी के स्वरूप में ध्यान लगाने लगते हैं। लेकिन ऐसा करने से मंत्र का जो वास्तविक स्वरूप है, उससे मन हटने लगता है। बाहर के देशों के लोग, जिनकी संस्कृति में न शिव है, न राम है, न कृष्ण है, न देवी है, अगर मंत्र ग्रहण करें तो किस स्वरूप की कल्पना करेंगे? अगर बाहर के लोगों को हम मंत्र देते हैं *'ॐ नमः शिवाय'* तो उनके लिए उसका कुछ मतलब होता ही नहीं। सच कहता हूँ, अगर आप खुद को और एक पाश्चात्य सभ्यता के व्यक्ति को देखें, तो मंत्र की उपलब्धि उस व्यक्ति में ज्यादा दिखलायी देगी। इसका कारण है कि वह व्यक्ति बिना किसी आवरण के, बिना किसी पूर्वाग्रह के, मात्र साधना की दृष्टि से मंत्र-अभ्यास करता है।

योग शास्त्रों में भी बतलाया जाता है कि हमारे सूक्ष्म शरीर के भीतर जो शक्ति के केन्द्र हैं, जिन्हें हम चक्र कहते हैं, वे विभिन्न ध्वनियों से स्पंदित होते हैं, प्रभावित होते हैं। ये शब्द, ये अक्षर, मंत्रों में मात्र एकाक्षर का रूप लेते हैं, किसी में बीज मंत्र का रूप लेते हैं, और किसी चक्र में एक समूह का रूप लेते हैं। इनका अलग-अलग रूप है। मंत्र जप करते समय इन शक्ति केन्द्रों में, इन चक्रों में ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। यह मंत्र-साधना का एक नियम है।

मंत्र की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में मंत्र के साथ श्वास जुड़ती है, द्वितीय अवस्था में प्रतीक जुड़ता है, तृतीय अवस्था में इष्ट जुड़ता है, और चतुर्थ अवस्था में इष्ट दर्शन की अनुभूति होती है। इस प्रकार मंत्र की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ पर भी यह आवश्यक है कि हम मंत्र को अपने विचारों और संस्कारों से न जोड़ें, बल्कि उन्हें शक्ति और स्पन्दन के रूप में देखें। आपको मालूम होगा कि जब सेना मार्च करती हुई किसी पुल को पार करती है, तो कदम ताल से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनसे पुल के टूटने की सम्भावना रहती है। इसलिए सेना को निर्देश दिया जाता है कि पुल को पार करते समय कदम मिलाकर न चलें। जिस प्रकार एक ध्वनि तरंग शक्ति

का रूप धारण कर पुल को तोड़ने में सक्षम हो जाती है, ठीक उसी प्रकार मंत्र शक्ति भी मन के बन्धनों को तोड़ कर आन्तरिक प्रतिभा को प्रस्फुटित करने में सक्षम होती है।

इस विषय में देश तथा विदेश में अनेक अनुसंधान किए गए हैं और किए जा रहे हैं, जिनसे यह मालूम पड़ता है कि बोलकर, या मानसिक रूप से भी मंत्र का उच्चारण करने से विचार, बुद्धि, भावना और उत्तेजना इत्यादि पर उसका प्रभाव पड़ता है। जब हमारी वृत्तियाँ बहिर्मुखी रहती हैं तो मंत्र का दूसरा असर होता है। शरीर पर इसका असर दूसरा होगा, विचारों पर दूसरा होगा, भावना पर दूसरा होगा, और व्यवहार पर असर दूसरा होगा। जैसे-जैसे हमारा मन अन्तर्मुखी होता है, स्थिर होता है, शान्त होता है, वैसे-वैसे मंत्र का प्रभाव बदलता है। मंत्र शास्त्र अपने आप में एक व्यापक विज्ञान है।



हठ योग

हठ योग की मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रणेता हैं योगी स्वात्माराम। इस पद्धति में हठ योग का मुख्य प्रयोजन शरीर शुद्धि नहीं है। हठयोग का मतलब हठपूर्वक योगाभ्यास करना भी नहीं है। हठयोग का सम्बन्ध रहता है शरीर की दो नाड़ियों से, जिन्हें इड़ा और पिंगला कहा जाता है। ये नाड़ियाँ हमारे व्यक्तित्व में प्राण शक्ति तथा चित्त शक्ति का संचार करती हैं। प्राण शक्ति के संचार द्वारा शरीर को और चित्त शक्ति के संचार द्वारा मन को स्फूर्ति प्राप्त होती है। प्राण शक्ति और चित्त शक्ति दो प्रवाह हैं, जिनके द्वारा हमारा पूरा व्यक्तित्व कार्य करने में सक्षम होता है, शारीरिक इन्द्रियों तथा मानसिक अवस्थाओं में शक्ति का संचार होता है। इन दो प्रवाहों के मंत्र हैं 'हं' और 'ठं'। योगियों में ऐसी मान्यता है कि आप मंत्र के अभ्यास द्वारा प्राण शक्ति और चित्त शक्ति को जाग्रत कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए मंत्र का सिद्ध होना आवश्यक है।

'हं' मंत्र पिंगला शक्ति का द्योतक है और 'ठं' मंत्र इड़ा शक्ति का। इन्हीं दोनों के संयोग से 'हठ' शब्द उत्पन्न हुआ है। अभी बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त हठ शब्द के बारे में हम बात नहीं कर रहे हैं। हठयोग के सम्बन्ध में चर्चा हो रही है। हठ योग का प्रयोजन है, शरीर को शुद्ध, विकार रहित बनाकर इन दो जीवनी शक्तियों में संतुलन लाना। ये विकार शरीरस्थ भी हैं और मानसिक भी। शरीर के विकारों को दूर करने के लिए हम हठ योग की पद्धति में तीन चीजों का प्रयोग करते हैं – वायु, जल और वस्त्र। जो प्रथम तीन क्रियाएँ हैं – नेति, धौति और बस्ति, उनमें वायु का प्रयोग होता है, जल का प्रयोग होता है, और वस्त्र का प्रयोग भी होता है।

मन से विकारों को दूर करने के लिए हठ योग की अगली तीन क्रियाएँ हैं – नौलि, कपालभाति और त्राटक। नौलि के द्वारा मणिपुर चक्र को स्पंदित

कर प्राण शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाते हैं। कपालभाति प्राणायाम के द्वारा प्राण शक्ति की ऊर्जा को मस्तिष्क तक लाया जाता है। यह वह कपालभाति नहीं जिसका अभ्यास हम सामान्यत: करते हैं, इसकी पद्धति अलग है। मस्तिष्क में प्राण शक्ति का संयोग होता है आज्ञा चक्र तथा सहस्त्रार चक्र के साथ। इसी प्राण शक्ति को फिर आज्ञा तथा सहस्त्रार में केन्द्रित किया जाता है त्राटक के अभ्यास द्वारा। यह अभ्यास भी वैसा नहीं है जैसा हम लोग सामान्य रूप में सीखते हैं।

हठ योग के कपालभाति एवं त्राटक का अभ्यास राजयोग के कपालभाति और त्राटक से भिन्न है। राजयोग में जिन विधियों का उल्लेख किया गया है, उन्हें हम हठ योग की प्रारम्भिक क्रियाओं के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

इस बात को याद रखिए कि हठ योग का सम्बन्ध प्राणमय कोश की जागृति से रहता है। योग हमारे शरीर को पंचकोशों में विभाजित करता है। ये पंचकोश हैं अन्नमय कोश (पदार्थमय शरीर), मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। अन्नमय कोश और मनोमय कोश मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के क्षेत्र हैं, जो भौतिक जीवन में प्रकट होते हैं। इनके बाद आता है प्राणमय कोश, ऊर्जा का क्षेत्र, प्राण का क्षेत्र। इसके द्वारा शरीर की इन्द्रियों एवं मन की विभिन्न अवस्थाओं की क्रियाशीलता का बोध होता है। गति, शक्ति, सामर्थ्य तथा ऊर्जा का बोध होता है। इसके बाद है विज्ञानमय कोश – आन्तरिक, अनुभवगम्य ज्ञान की प्राप्ति, और इसके बाद है आनन्दमय कोश, जिसमें शरीर, मन और आत्मा का समन्वय हो जाता है तथा उच्च दैविक अनुभूति की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन ने मानव को इन पाँच कोशों के रूप में देखा है। हठ योग का सम्बन्ध रहता है अन्नमय कोश के विकारों को दूर करने से और प्राणमय कोश को जाग्रत करने से। हठ योग और राजयोग एक-दूसरे के पूरक माने गए हैं।

सामान्य जीवन में इन दोनों योगों के व्यवहार से शरीर और मन स्वस्थ एवं शक्ति से परिपूर्ण हो सकते हैं। इस बात का प्रमाण भी है, और आप व्यक्तिगत अनुभव से इसे जान भी सकते हैं।

सत्संग

संसार में रहते हुए किस प्रकार अनासक्त रहा जा सकता है?

संसार में अनासक्त रहने के लिए सर्वप्रथम सजगता को अपने जीवन में लाना पड़ेगा, क्योंकि जब तक हम विषयों का भोग करते रहते हैं, तब तक उनके बन्धन में, मोह में पड़े रहते हैं। इन्हीं बन्धनों के कारण, मोह के कारण विषयों के प्रति आसक्ति होती है। परिवार भी विषय-रूप धारण करता है, कामना भी विषय-रूप धारण करती है, भौतिक जगत् भी विषय-रूप धारण करता है।

आसक्ति मन का विषयों के प्रति आकर्षण है। अब इसी आसक्ति को अनासक्त भाव में परिणत करना है। जब तक हम अपने मानसिक तथा आन्तरिक आकर्षण के प्रति अचेतन हैं, तब तक आसक्ति का निराकरण सम्भव नहीं है। आसक्ति का अर्थ तो आप सब जानते भी हैं। आसक्ति वह चीज है जो आ सकती है, जा नहीं सकती। तो जो चीज आ सकती है, पर जा नहीं सकती, उसका निराकरण कैसे होगा?

सामान्य रूप से मनुष्य जब तक अचेतन अवस्था में कर्म करता रहेगा, तब तक उसका निराकरण नहीं हो पाएगा। इसीलिए हमने कहा कि सर्वप्रथम सजगता के माध्यम से ही अनासक्त भाव को धारण किया जा सकता है। और अनासक्त भाव को जाग्रत करने के लिए, अनासक्त भाव का अनुभव करने के लिए दो चीजों की आवश्यकता पड़ती है। एक है विवेक, और दूसरा है वैराग्य।

सामान्य रूप से हम लोग बुद्धि की सकारात्मक कार्यक्षमता को विवेक कहते हैं, और पलायनवाद को वैराग्य कहते हैं। कहते हैं, 'इसे छोड़ो, यह ठीक

नहीं है। हमें तो वैराग्य हो गया है, संसार में अब रुचि नहीं। अब हम परिवार में रहना नहीं चाहते।' यह वास्तव में वैराग्य नहीं है, यह तो पलायन है।

तीन बिन्दु हैं – सजगता, विवेक, और वैराग्य। इन्हें पहले समझा जाए। अचेतन अवस्था में हम विचार करते हैं, कर्म करते हैं, इच्छा रखते हैं, कामना करते हैं, और इस अचेतन अवस्था में जो कामनाएँ या वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, महत्त्वाकांक्षाएँ या इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका सम्बन्ध रहता है स्वार्थ एवं आत्म-संतुष्टि की भावना से। इसलिए हमारी प्रवृत्ति सात्त्विक नहीं रहती। कभी राजसिक रहती है तो कभी तामसिक। हम अपनी बाह्य तथा आन्तरिक क्रियाओं को समझ नहीं पाते, देख नहीं पाते, और हमारे द्वारा जो कर्म होते हैं वे स्व-इच्छा या स्वार्थपूर्त्ति की भावना से प्रेरित होते हैं।

अत: सजगता को जाग्रत करने के लिए सर्वप्रथम यह जानकारी प्राप्त करनी होगी कि आसक्ति का प्रकोप, विषयों का आकर्षण हमें कितनी गहराई तक आकृष्ट कर रहा है। इसे कहते हैं सजगता। अब रही बात विवेक की। विवेक ज्ञान का सही उपयोग है, बुद्धि का सही उपयोग है, चित्त का सही उपयोग है, चिन्तन का सही उपयोग है। विवेक की जो क्षमता है, उसमें प्रतिभा का विकास होता है, प्रतिभा कुंठित नहीं रहती।

तीसरी चीज है वैराग्य। अगर वैराग्य शब्द का विश्लेषण करें, तो उसमें राग शब्द दिखलायी देता है। योग शास्त्रों में राग की परिभाषा दी गयी है, *'सुखानुशयी रागः।'* राग उस आकर्षण को कहते हैं जिसमें हमें सुख की प्राप्ति होती है। इसका विपरीतार्थी शब्द है द्वेष। *'दुःखानुशयी द्वेषः'* – द्वेष उसे कहते हैं जब हमारा मन किसी कारणवश सुख की अवस्था से दूर हो जाता है, अर्थात् विकर्षण की अवस्था। हमारा व्यक्तित्व तथा मन चुम्बक की तरह हैं। आपने प्रयोग करके देखा होगा कि जब दो चुम्बकों को पास-पास लाते हैं, और उनके ध्रुव विपरीत होते हैं तो वे आपस में जुड़ जाते हैं। फिर उन्हें अलग करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन अगर ध्रुवों को समान कर दिया जाए तो प्रयत्न करने पर भी वे आपस में सटते नहीं हैं। जब सटने की प्रक्रिया होती है, तो उसे कहते हैं राग। जब विकर्षण की प्रक्रिया होती है तो उसे कहते हैं द्वेष। राग में सुख की अनुभूति होती है। द्वेष में विकर्षण होता है, अलग होने की प्रक्रिया होती है, जो संतुलित नहीं रहती। उससे दु:ख उत्पन्न होता है।

वैराग्य का अर्थ होता है राग रहित अवस्था। राग रहित अवस्था में हम संसार में रहते हुए भी संसार के प्रलोभनों से अछूते रहते हैं। 'अपरोक्षानुभूति' में आदि शंकराचार्य कहते हैं कि विवेक और वैराग्य मानव जीवन के दो अंग हैं। एक पक्षी के दो पंखों के तुल्य हैं। दो पंखों के प्रयोग से पक्षी आसमान में उड़ने में सक्षम हो जाता है। एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है। ठीक इसी प्रकार संसार में रहते हुए भी अपनी सात्त्विक प्रतिभा के विकास के लिए, अनासक्त भाव को धारण करने के लिए विवेक और वैराग्य की आवश्यकता होती है, जिसे आप योग-साधना के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।



मानवीय गुण – श्रद्धा और विश्वास

मनुष्य के व्यक्तित्व में कतिपय उदात्त गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों में श्रद्धा और विश्वास का विशेष स्थान है। हम अपने जीवन में विश्वास का अभाव अनुभव करते हैं। केवल दूसरों पर नहीं, कभी-कभी स्वयं पर भी विश्वास नहीं रहता। आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। साथ-ही-साथ यह भी देखने में आया है कि श्रद्धा की भी कमी रहती है। विश्वास हमारे जीवन में तभी प्रकट होगा, जब हमारे भीतर एक सकारात्मक विचारधारा दृढ़ रूप धारण करे। दृढ़ता को धारण करने के समीप जब हम पहुँचते हैं, तब उसका रूप होता है श्रद्धा का। श्रद्धा का मतलब होता है सत्य के समीप आना, सत्य को पहचानना।

श्रद्धा का सम्बन्ध भक्ति की परिभाषा से नहीं है। भक्ति अलग चीज है। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य सत्य के समीप आता है, और अपने भीतर से नकारात्मक तत्त्वों को निकालकर सकारात्मक विचारधारा को अपनाता है, वैसे-वैसे उसका जीवन उन्नत होने लगता है। इस बात को तो हम नकार नहीं सकते कि हमारे भीतर स्वार्थ भाव है। शिष्य के जीवन में भी, साधक के जीवन में भी स्वार्थ विद्यमान रहता है, जो अनेक रूपों में सामने आता है। जब तक यह स्वार्थ विद्यमान है तब तक गाड़ी आगे नहीं बढ़ती, क्योंकि स्वार्थ एक प्रकार का अवरोध है, ब्रेक है जो एक्सीलेटर को दबा देने पर भी गाड़ी को आगे नहीं बढ़ने देता। इसीलिए श्रीमद् भगवद्गीता तथा अन्य ग्रन्थों में कहा गया है कि मनुष्य को निष्काम भाव से प्रयत्न, साधना और सेवा करनी चाहिए। यह निष्काम भाव ही कुंजी है, क्षमता है, जो ब्रेक को ढीला कर सकती है, और गाड़ी फिर आगे बढ़ सकती है।

इसलिए सजगता के माध्यम से एवं सत्यनिष्ठ बनकर अपने जीवन में आगे बढ़ने का प्रयत्न करना है, और इस विद्या को योग से सीखना है।

योग जीवन की कुंजी है

अभी हमने 'ॐ' मंत्र का उच्चारण किया। हो सकता है इस मंत्र के सम्बन्ध में लोगों की अपनी-अपनी मान्यता हो, लेकिन इसके पीछे एक वैज्ञानिक रहस्य भी है। ॐ का उच्चारण जब हम करते हैं तो सामान्य रूप से यह कहा और सोचा जाता है कि हम स्वयं को शान्त करके अपने भीतर आत्म-वृत्ति को जाग्रत कर रहे हैं, लेकिन इसकी एक शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक प्रतिक्रिया भी होती है, जो पूर्णतया वैज्ञानिक है। और उसे एक बार समझ लेना चाहिए।

मानसिक तरंगों पर मंत्रोच्चारण का प्रभाव

आप शायद जानते होंगे कि मानव मस्तिष्क में चार प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिन्हें अल्फा, बीटा, थीटा और डेल्टा तरंग के नाम से जाना जाता है। पारम्परिक मत के अनुसार ये तरंगें चेतना की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और क्रिया अवस्था की द्योतक हैं। आधुनिक मत के अनुसार ये विक्षिप्त अवस्था, शान्त अवस्था, एकाग्र अवस्था और ध्यान की अवस्था की द्योतक हैं।

जब मनुष्य का मन विचलित हो जाता है, और उसकी वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, तब बीटा तरंग जाग्रत होकर मस्तिष्क में छा जाती है। और इसी तरंग के विभिन्न रूपों को उत्तेजित रंगों के रूप में देखा गया है। स्पेन के एक अस्पताल में यह जानने के लिए शोध किया गया था कि जो व्यक्ति शल्य-चिकित्सा के लिए अस्पताल में आते हैं, उनके तनाव को किस प्रकार दूर किया जाए, क्योंकि जब वे अस्पताल में प्रवेश करते हैं तो बहुत घबराए हुए और भयभीत रहते हैं कि पता नहीं शल्य-चिकित्सा में क्या किया जाएगा। आपको तो मालूम है कि एक छोटी शल्य-चिकित्सा से भी हम लोग भयभीत हो जाते हैं। और

उस समय स्नायु-संस्थान में इतना तनाव रहता है कि यदि प्रशान्तक भी दिया जाए, तो वह उन्हें भौतिक रूप से तो सुला देता है, लेकिन शरीर की आन्तरिक प्रणालियों में तनाव की स्थिति पूर्ववत् बनी रहती है।

तनावों को दूर करने के लिए किस प्रकार का योगाभ्यास मरीजों को बतलाया जाए, और प्रशान्तकों का उपयोग कम-से-कम हो, इस विचार से स्पेन में बार्सीलोना स्थित एक अस्पताल में 'ॐ' मंत्र पर शोध किया गया। जब कोई मरीज चिकित्सा के लिए आता था, तो सर्वप्रथम उसे एक कमरे में बैठाकर उससे ॐ का उच्चारण कराया जाता था। उच्चारण से मस्तिष्क के भीतर होते हुए परिवर्तनों को यन्त्रों के माध्यम से देखा जाता था। यह देखा गया कि मंत्र उच्चारण से बीटा तरंग का प्राधान्य, जो चंचलता, भय, एवं घबराहट की प्रतीक है, धीरे-धीरे कम होता गया और अल्फा तरंग की वृद्धि होती गयी। और जब वह मरीज अपने स्नायु-संस्थान और हृदय-संस्थान को शान्त कर लेता था, तब उसे निश्चेतक देकर उसकी शल्य-चिकित्सा की जाती थी।

स्पन्दन शक्ति

इस प्रयोग से वहाँ के वैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि ॐ के माध्यम से, जो एक स्पन्दन शक्ति है, मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न उत्तेजना को शान्त किया जा सकता है। यह सत्य है कि स्पन्दन का हमारे शरीर, मस्तिष्क और जीवन पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। हमारा शरीर वास्तव में स्पन्दनों से बना हुआ है। हमारा शरीर शक्ति का संयोजन है। जब यह शक्ति एकाग्र होती है तो पदार्थ अभिव्यक्त होता है, और जब यही शक्ति बिखरती है तो पदार्थ लुप्त हो जाता है, मात्र शक्ति शेष रहती है। भौतिक विज्ञान का भी कथन है कि शक्ति पदार्थ के भीतर ऊर्जा के रूप में विद्यमान रहती है, अणु के भीतर विद्यमान रहती है। अणु तो सभी चीजों में है। चाहे लोहा हो, पत्थर हो, लकड़ी हो, या हाड़-माँस का शरीर हो। अगर आप सूक्ष्मदर्शी की सहायता से एक अणु के भीतर देखेंगे, तो आपको यह शक्ति स्पन्दनों के रूप में दिखलायी देगा।

वैज्ञानिकों का कहना है, और योग का भी मत है कि जहाँ किसी प्रकार की क्रिया या गति हो, वहाँ एक प्रकार की ध्वनि या स्पन्दन अवश्य रहता है। जिस ध्वनि या स्पन्दन का अनुभव वैज्ञानिक अणु के भीतर ऊर्जा के रूप में करते हैं, उसी को मनीषियों और योगियों ने नाम दिया है 'ॐ'। मैं आपको धार्मिक तरीके से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक तरीके से समझाने का प्रयत्न कर रहा

हूँ, क्योंकि जब तक हम अध्यात्म के वैज्ञानिक पक्ष को नहीं समझ पाएँगे, तब तक यह बात हमारे दिमाग में बैठने वाली नहीं है।

माण्डूक्य उपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही कहा गया है – *ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्।* 'ॐ' ही एक ऐसा शब्द है जो सभी जड़ तथा चेतन में निहित है। यह एक ध्वनि है, जो भूतकाल में भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगी। यह स्पन्दन है, शक्ति है जिसे आप अपने जीवन से हटा नहीं सकते, क्योंकि जिस समय इस ध्वनि को अपने जीवन से अलग करेंगे, उस समय जीवन रहेगा ही नहीं। जीवन का आधार तो क्रियाशीलता है, गति है। अणु के भीतर ऊर्जा की क्रियाशीलता है। परमाणु के भीतर ऊर्जा की गति है, स्पन्दन है, नाद है। हमारा यह पदार्थमय शरीर भी ध्वनि-स्पन्दनों से बना हुआ है। शक्ति का केन्द्रित रूप पदार्थ है, और मुक्त रूप अव्यक्त। यह योग का मत है।

हमारे शरीर के सभी तन्त्र-तन्त्रिकाओं को यह स्पन्दन शक्ति ही नियन्त्रण में रखती है। इसलिए योग में मंत्रों का महत्त्व है। मंत्र के द्वारा आप अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन ला सकते हैं। अपने मस्तिष्क की कार्य-क्षमता और कार्य-प्रणाली को परिवर्तित कर सकते हैं। मन के विभिन्न आयामों का एक नया अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। यह मंत्र-शास्त्र का आधार है। जब एक ध्वनि या स्पन्दन को हम अपने शरीर में अनुभव करते हैं, उस तरंग को अपने भीतर जाग्रत करते हैं, तभी सामान्य शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक अवस्था में परिवर्तन होता है। यह तो इसका भौतिक पक्ष है। यह बात भी आप समझ लीजिए कि हमारे शरीर का सम्बन्ध है मन के साथ, और शरीर तथा मन के बीच जो कड़ी है वह है हमारा मस्तिष्क। मन का सम्बन्ध है आत्मा के साथ, और इन दोनों को जोड़ने वाली जो कड़ी है, वह है हमारी चेतना।

मस्तिष्क और चेतना

यहाँ पर मस्तिष्क और चेतना, इन दो चीजों को समझना है। मैं मन, आत्मा और शरीर के बारे में नहीं बोलूँगा, मैं बोलूँगा मस्तिष्क और चेतना के बारे में, क्योंकि ये दोनों कड़ियाँ हैं जो एक को दूसरे से जोड़ती हैं। मस्तिष्क के बारे में आपने एक चीज अनुभव की होगी कि जैसे-जैसे हमारा शरीर शिथिल होता है, वैसे-वैसे हमारे मस्तिष्क की क्रिया बदलती है। लेकिन शिथिलीकरण ही सब कुछ नहीं है। रात को तो हम सोते हैं, लेकिन क्या उस समय इस प्रकार

का अनुभव हमें होगा? नहीं, क्योंकि उस प्रकार के विश्राम में सजगता का अभाव रहता है। आप रात को कभी अकेले सोने के लिए बिस्तर में नहीं जाते, आप जाते हैं चिन्ता की गठरी को अपने साथ लिए। और बिस्तर में लेटकर उस गठरी को खोल देते हैं, एक-एक चीज को देखते हैं, और देखते-देखते कब सो जाते हैं, मालूम नहीं पड़ता। चिन्ता की वह गठरी आपको अन्त में चिता तक ले जाती है।

कभी निराशा हो जाती है, कभी चिन्ता घेर लेती है, कभी विषाद होता है, कभी मानसिक उन्माद की अवस्था आती है, कभी अनिद्रा की शिकायत हो जाती है, और विचित्र-विचित्र प्रकार के मनोरोग उत्पन्न होने लगते हैं। और यह होगा जरूर, अभी नहीं तो बाद में। कोई व्यक्ति इससे अछूता नहीं है। इसलिए अगर हम मस्तिष्क को शान्त करना चाहें तो शरीर को शिथिल करना, या सोना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए आवश्यक है सजगता। सजगता को प्राप्त करके, शिथिलीकरण की विभिन्न अवस्थाओं को पा करके हमें एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करना है, जहाँ पर शरीर की सभी इन्द्रियों, शरीर के सभी अनुभवों, मन के सभी अनुभवों, और मस्तिष्क के सभी अनुभवों में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाए। इस सम्बन्ध में सामंजस्य और समायोजन का अनुभव हो। इसके लिए कुछ अभ्यासों की आवश्यकता होती है।

उनमें योगनिद्रा एक है। लेकिन योगनिद्रा को सिद्ध करने के लिए कुछ मनोभावों को प्रकट करना आवश्यक है। यह नहीं कि टेप चला दिया, सुनते गए और करते गए। उससे फायदा जरूर होगा, लेकिन अगर आपको गहराई में जाना है, अगर आपको उस कड़ी का अनुभव करना है, जो हमारे शरीर को मन के साथ जोड़ती है, और मन को आत्मा के साथ जोड़ती है तो कुछ मनोभावों को जाग्रत करना आवश्यक होगा। उनमें से एक है सजगता। हमारे गुरुजी कहा करते हैं कि स्वास्थ्य के दो लक्षण हैं। पहला है, पाचन क्रिया अच्छी होनी चाहिए। लक्कड़ हजम, पत्थर हजम। और दूसरा, निद्रा अच्छी आनी चाहिए। बिस्तर पर सिर रखते ही न कोई चिन्ता, न कोई परेशानी, निद्रा देवी का आह्वान करते ही वे आ जाती हैं, हम उनकी गोद में सो जाते हैं, और पूर्ण विश्राम के साथ निश्चित समय पर उठ जाते हैं।

पाचन-संस्थान को ठीक रखने के लिए तो योग बहुत कुछ कहता है, लेकिन निद्रा के लिए सजगता किस प्रकार की हो? सबसे पहले एक बार अपनी पूरी दिनचर्या का अवलोकन कर लेना चाहिए कि मैं सबेरे इतने बजे

उठा था, उसके बाद मैंने ये-ये काम किए। अन्त में आत्मावलोकन के क्षण तक जो काम आपने किए, उन्हें पूरा देखते हुए, अगर कोई तनाव, परेशानी या बेचैनी उत्पन्न हुई हो, तो उसे दूर करते हुए अपने आपको स्वयं के प्रति जागरूक बनाना है। अगर यह सजगता आ जाए तो मस्तिष्क एक क्षण में ही पूर्ण रूप से शान्त हो जाएगा।

अनासक्ति

भौतिक जगत् में पृथ्वी तत्त्व को अन्तिम माना गया है। और पृथ्वी तत्त्व से ही उत्पन्न ये वृक्ष, जिन्हें हम देखते और अनुभव करते हैं, ऊपर की ओर बढ़ते हैं। लेकिन ईश्वर की दुनिया में सभी चीजें उलटी हैं– *ऊर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।* भगवान जब अपने लोक का वर्णन करते हैं, तो कहते हैं कि मेरा लोक तो किसी ने देखा नहीं, मेरे लोक को किसी ने प्राप्त नहीं किया। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वे कहते हैं–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥15.7॥

जीव जब प्रकृति के अधीन होता है, तो ऊपर से नीचे उतरता है। वृक्ष की जड़ तो ऊपर है, ईश्वर में समाहित है। तना नीचे है, जो प्रकृति में आ रहा है। और शाखाएँ, पत्ते, फल एवं फूल हैं यह संसार। मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक इन्हीं शाखाओं और पत्तों में स्वयं को भ्रमण करते हुए देखता है। भगवान कहते हैं कि अगर मुझे प्राप्त करना है तो फिर उसके लिए तुम्हें शस्त्र की आवश्यकता होगी, जिसके द्वारा तुम इस वृक्ष के तने को काट सको, और अपनी जड़ की तरफ जा सको। उस शस्त्र को कहते हैं असंगशस्त्र। जैसे ब्रह्मास्त्र हाता है, वैसे ही इस वृक्ष को काटने के लिए, इस संसार रूपी वृक्ष से मुक्ति पाने के लिए एक औजार की आवश्यकता है, जिसे प्रभु ने नाम दिया है असंगशस्त्र– *अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा।*

संसार रूपी तने से जब मनुष्य आसक्ति रहित हो जाए, तभी वह ऊपर उठ सकता है। यह बात हम इसलिए बता रहे हैं कि हमारा भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन, दोनों उल्टे हैं। आप आइने में अपने आपको देखते हैं तो बायाँ दाहिना हो जाता है, और दाहिना बायाँ। ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क के भीतर जो कार्य होता है, उसकी कार्य-पद्धति उल्टी है। जब हमारे गुरुजी अपने

गुरु स्वामी शिवानन्द जी के सान्निध्य में थे, तो एक रात उन्होंने स्वप्न में देखा कि एक विशाल नगर है, जिसमें सुन्दर सड़कें और बाग-बगीचे हैं, लेकिन उसमें अंधेरा छाया हुआ है। उन्होंने इस स्वप्न की चर्चा अपने गुरुजी से की तो उन्होंने कहा कि यह तुम्हारे मस्तिष्क का नगर है, जिसमें अंधकार छाया हुआ है। अब इसे प्रकाश में लाना है।

वह मस्तिष्क जिसमें अन्धकार छाया हुआ है, उसी के द्वारा अगर हम भौतिक जगत् में इतना बढ़े हैं, तो सोचिए कि जब उसमें प्रकाश आ जाएगा तब हमारी क्या अवस्था होगी? विज्ञान भी कहता है कि मानव मस्तिष्क की मात्र दस प्रतिशत क्षमता का उपयोग हो रहा है, शेष नब्बे प्रतिशत सुषुप्त अवस्था में है। योगनिद्रा के द्वारा जब हम मस्तिष्क के क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं तो भीतर एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यह मस्तिष्क के कोलाहल को शान्त कर, मस्तिष्क की बहिर्मुखता को समाप्त कर भीतर प्रकाश का अनुभव कराती है। इसके लिए सजगता अत्यन्त आवश्यक है।

मंत्रों द्वारा चेतना का विस्तार

मस्तिष्क को नियंत्रित कर लेने से शरीर और मन का सम्बन्ध जुड़ता है, और उसके बाद चेतना को नियंत्रित करना है, ताकि मन का सम्बन्ध आत्मा से हो जाए। चेतना को समझने और चेतना के विस्तार के लिए मंत्र का सहारा लिया जाता है। योग-दर्शन में कहा गया है – *मननात् त्रायते इति मंत्रः।* वह शक्ति जो मन को गुणों, विषयों, विचारों, बुद्धि और अहंकार के बन्धनों से मुक्त कर दे, मंत्र कहलाती है। इनके बन्धनों से मुक्त होना कैसे सम्भव है? क्या ऐसा नहीं कि हम जब बन्धन-मुक्त हो जाएँगे, तब संसार में रहेंगे ही नहीं? ऐसी बात नहीं है, मनुष्य बन्धन-मुक्त होकर भी संसार में रह सकता है। लेकिन हम इस बात को नहीं समझ पाते, क्योंकि हमने इस अवस्था का अनुभव किया ही नहीं है। चेतना के विस्तार से यह सम्भव है। इसलिए चेतना को समझना आवश्यक है।

तंत्र-शास्त्र में बतलाया गया है कि मन की इक्कीस अवस्थाएँ होती हैं, चार नहीं। इनमें से कुछ अवस्थाएँ चेतन से सम्बन्ध रखती हैं, कुछ अवचेतन से, और कुछ तुरीयावास्था से। लेकिन चाहे जो अनुभव हो, उसे हम बाह्य या स्थूल अवस्था में प्राप्त करते हैं। जाग्रत, स्वप्न, निद्रा और तुरीया के जो अनुभव हैं, वे स्थूल में ही होंगे। अब, सूक्ष्म-जाग्रत भी

होता है, सूक्ष्म-स्वप्न भी होता है, सूक्ष्म-निद्रा भी है, और सूक्ष्म-तुरीया भी। कारण में जाइए – कारण-जाग्रत है, कारण-स्वप्न है, कारण-निद्रा है कारण-तुरीया है। इसके आगे चले जाइए, वहाँ पर भी ये अवस्थाएँ रहेंगी, क्योंकि ये तो अनुभव के सीमित क्षेत्र हैं, और इन्हीं सीमित क्षेत्रों में हमें आगे बढ़ना है, स्वामित्व प्राप्त करने हेतु। जो बात मैं कह रहा हूँ उसका उल्लेख न आप प्रत्याहार के अभ्यासों में पाएँगे न धारणा के, क्योंकि ये तो प्रत्याहार और धारणा के प्रारम्भिक अभ्यास हैं। इनका सम्बन्ध रहता है स्थूल जाग्रत, स्वप्न, निद्रा और तुरीया से। ध्यान का सम्बन्ध रहता है सूक्ष्म जाग्रत, स्वप्न, निद्रा और तुरीया से; समाधि का सम्बन्ध रहता है कारण जाग्रत, स्वप्न, निद्रा और तुरीया से।

जिन्होंने योग दर्शन का अध्ययन किया है वे सोचेंगे कि समाधि का वर्णन करते समय भी महर्षि पतंजलि ने उसकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है। सहज समाधि, अस्मिता, सबीज, निर्बीज, सविकल्प को पार करते-करते अन्त में आनन्द समाधि की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन आपको स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से कारण, और कारण से परा अवस्था में ले जाता है। जब कोई आदमी कहता है कि हम तो ईश्वर दर्शन के लिए साधना कर रहे हैं, तो हमें हँसी आ जाती है। तुम तो बात कर रहे हो परा की, जबकि स्थूल-जाग्रत, स्थूल-स्वप्न, स्थूल-निद्रा और स्थूल-तुरीया को ही नहीं जानते हो। इसीलिए एक विधि को अपनाना है जिसके द्वारा हम शनैः-शनैः आगे बढ़ते जाएँ, और यह विधि है – मंत्र जप।

मंत्र के द्वारा चेतना का उत्थान संभव है, क्योंकि चेतना में भी ऊर्जा है, शक्ति है। इसे आप 11 हजार वोल्ट की शक्ति मान लीजिए, और व्यक्त जगत् में हम जिस शक्ति का, प्राण का अनुभव करते हैं, वह कभी 440 वोल्ट का तो कभी 220 वोल्ट का होता है। उसे निम्न शक्ति मान लीजिए।

अतः हमें एक प्रक्रिया को अपनाना है जिसके द्वारा मस्तिष्क को जाग्रत कर सकें। और इसके लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है योगनिद्रा। और एक दूसरी प्रक्रिया को अपनाना है जिसके द्वारा हम चेतना को जाग्रत कर सकें, और इसके लिए उपयुक्त माध्यम है मंत्र। इन दोनों के साथ-साथ यदि योग के विभिन्न अभ्यासों, जैसे आसन, प्राणायाम इत्यादि को किया जाए तो हम स्थूल अवस्था में पूर्णता का अनुभव कर पाएँगे। अगर हम इतना कर लें, तो यह हमारे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

साधना की प्रक्रिया

मैं योगविद्या के क्रमिक अभ्यासों और अवस्थाओं का उल्लेख कर रहा हूँ ताकि आप समझ सकें कि जिसे हम व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कहते हैं, उसमें व्यक्तित्व पर पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता होती है। यह नियंत्रण मात्र घण्टी बजाने, पूजा और ध्यान करने से नहीं होगा। इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– *'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'* इस साधना को साधक जब दीर्घ काल तक करता है, निरन्तर करता है, और साधना के प्रति श्रद्धा भाव को धारण करके करता है, तभी साधना फलीभूत होती है। कुछ लोग हमारे पास आते हैं, कहते हैं, 'स्वामीजी, हम तो बीस साल से योगाभ्यास कर रहे हैं, लेकिन अभी तक कुछ हुआ नहीं।' हम पूछते हैं, 'कितने दिन करते हो साल में?' कहते हैं, 'नहीं स्वामीजी, सप्ताह में एक बार करता हूँ। उसके बाद तो कर नहीं पाता हूँ। फिर कभी याद आती है तो करता हूँ।' इसमें न दीर्घकाल हुआ, न नैरन्तर्य। और जब आदमी कहता है कि मुझे साधना से लाभ नहीं मिल रहा है, तो उसमें श्रद्धा भी नहीं है।

साधना के लिए ये तीन चीजें आवश्यक हैं। इन तीनों को अपनाकर दीर्घकाल तक अभ्यास करते रहने तथा श्रद्धा के भाव को धारण करने का, तथा चेतना और मस्तिष्क को नियंत्रण में लाने का संकल्प लेकर आप योग-मार्ग में आगे बढ़िए, सफलता अवश्य मिलेगी।



योगः कर्मसु कौशलम्

योग एक विज्ञान है, एक शारीरिक एवं मानसिक अनुशासन है, एक जीवन पद्धति है। लेकिन इसका सम्बन्ध धर्म से जोड़कर इसे ठीक से नहीं समझा गया है। योग के वास्तविक विषय पर आने के पूर्व मैं योग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा।

योग शब्द का अर्थ होता है 'जोड़ना'। दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्ति के लोग योग को ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करने तथा व्यक्तिगत चेतना को ब्रह्माण्डीय चेतना से जोड़ने का एक साधन मानते हैं। यदि आप देवर्षि नारद के भक्ति सूत्रों का अध्ययन करें, तो पाएँगे कि उसमें योग को 'परम चेतना' की अनुभूति के रूप में पारिभाषित किया गया है। यदि आप महर्षि पतंजलि के योग सूत्रों का अध्ययन करें, तो उसमें योग को अपने व्यक्तित्व की गहराई में जाने और अपने भीतर प्रसुप्त शक्तियों और गुणों को जाग्रत करने के एक माध्यम के रूप में पारिभाषित किया गया है – *योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*।

पातंजल योग सूत्रों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि योग मनोचिकित्सा की एक पद्धति है। मैं मनोचिकित्सा शब्द का प्रयोग मन की अनुभवातीत प्रकृति के जागरण और उसे जानने-समझने के सन्दर्भ में कर रहा हूँ। यदि आप भगवद् गीता का अध्ययन करें, तो उसमें आपको अनेक ऐसे मंत्र मिलेंगे, जिनमें योग को हमारे दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों से जोड़ा गया है। गीता में एक स्थान पर योग को कर्म में कुशलता के रूप में पारिभाषित किया गया है – *योगः कर्मसु कौशलम्*।

इस प्रकार योग की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं, जो हमारे शास्त्रों में वर्णित हैं, या उन साधु-सन्तों एवं विचारकों द्वारा दी गयी हैं, जिन्होंने मानव शक्ति के सम्बन्ध में अनुचिन्तन किया। मैं आपको एक और बात बतलाऊँ,

आज यहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के लिए योग का अर्थ इसके पारम्परिक अर्थ से भिन्न हो सकता है।

बीमार व्यक्ति के लिए योग रोगोपचार का एक साधन है। मानसिक रूप से तनावग्रस्त और चिन्ताओं से घिरे व्यक्ति के लिए योग शिथिलीकरण की एक प्रक्रिया हो सकती है। एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा हमारे तनाव एवं परेशानियाँ दूर हो जाती हैं। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति के लिए योग गहन निद्रा की अवस्था प्राप्त करने का एक साधन हो सकता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह भिन्न अर्थ रखता है।

योग की व्यावहारिक परिभाषा

यदि योग हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न अर्थ रखता है तो योग की वास्तविक परिभाषा क्या है? योग की वास्तविक परिभाषा है – सामंजस्य और सम्पूर्णता। शरीर और मन के विभिन्न संस्थानों के बीच, मस्तिष्क और मन की विभिन्न अवस्थाओं के बीच, मानसिक अवस्थाओं एवं शक्ति क्षेत्र (जिसमें हम रहते, कार्य करते, सोचते और चलते-फिरते हैं तथा जो हमारे भीतर भी प्राणशक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है) के बीच सामंजस्य तथा इन सब की सुस्वस्थता। यह प्राण और ब्रह्माण्डीय शक्ति तथा चेतना के बीच सामंजस्य भी है।

हमारे जीवन में ये दो चीजें हैं। एक है चेतना, और दूसरी है शक्ति। यही दोनों मूल सृजनात्मक शक्तियाँ हैं, जिनसे सृष्टि और अभिव्यक्ति का शक्ति-रूप जन्म लेता है। यहाँ तक कि वे ठोस पदार्थ भी, जिन्हें हम अपने सामने एक लकड़ी की मेज या धातु के माइक्रोफोन के रूप में देखते हैं।

शरीर की रचना पाँच तत्त्वों से मिलकर हुई है। यह चेतना और शक्ति के विभिन्न संयोजनों एवं वियोजनों का परिणाम मात्र है। यदि हम अपने तंतुओं या अपनी आणविक संरचना की गहराई में जाएँ, तो ये अणु के स्पन्दन के रूप में दिखायी देते हैं। पदार्थ में एकत्र ऊर्जा विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है, और मन की एकाग्र चेतना व्यक्त होती है विचारों, भावनाओं, संवेगों, इच्छाओं तथा अन्य मनोस्थितियों के रूप में जिन्हें हम सामान्य रूप से जीवन-पर्यन्त अनुभव करते रहते हैं।

इन सभी स्तरों में सामंजस्य, और इन स्तरों पर विभिन्न अवस्थाओं का समायोजन ही वास्तविक योग है। योग कहता है कि सृजनात्मक बनने के लिए

मनुष्य की बुद्धि, भावना और कर्म में सामंजस्य होना है। जिस प्रकार एक चाकू का उपयोग आप तीन प्रकार से कर सकते हैं, पहला, जीवन को बनाए रखने हेतु सब्जियाँ काटने के लिए; दूसरा, शरीर की चिकित्सा हेतु उसकी चीर-फाड़ के लिए; तीसरा, किसी व्यक्ति की हत्या करने के लिए। अन्तिम उपयोग तामसिक है, दूसरा उपयोग सात्त्विक है, और पहला उपयोग राजसिक है। ठीक उसी प्रकार बुद्धि, भावना और कर्म के साथ भी तीन गुण जुड़े हुए हैं। जब कभी हम इनका प्रयोग नकरात्मक ढंग से करते हैं, तब ये तामसिक हो जाते हैं, सीमित हो जाते हैं। कभी हम इनका प्रयोग महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर करते हैं, जिसमें स्वार्थ-भावना प्रधान रहती है, तब यह राजसिक उपयोग होता है। और कभी हम इनका प्रयोग अपने आस-पास के लोगों की भलाई के लिए, उनकी सहायता करने लिए, और उन्हें ऊँचा उठाने के लिए करते हैं। तब उस समय सात्त्विक भावना प्रधान रहती है।

बुद्धि, भावना और कर्म

हमारे जीवन में बुद्धि, भावना और कर्म – यही तीनों गुण सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हमारे दर्शन और धर्म भी इन्हीं के सन्तुलित प्रयोग के परिणाम हैं। इसी कारण योग हमें इन तीन चीजों से अवगत कराने का प्रयास करता है। उस शक्ति को जाग्रत करने का प्रयास करता है, जो जीवन की इन तीन अवस्थाओं में अन्तर्निहित है, लेकिन प्रसुप्त है। चौबीस घंटे के दिन में आप अनेक प्रकार के कर्म करते हैं। आप सोते, खाते-पीते, उठते-बैठते और बातें करते हैं। जब चौबीस घंटों के इस क्रम का आप अवलोकन करेंगे, तो पाएँगे कि इन घंटों में बहुत कम समय हम दूसरों के हित और स्वयं के उत्थान के लिए देते हैं।

यदि आप अपनी बुद्धि के उपयोग पर भी विचार करें, तो पाएँगे कि बुद्धि का विकास उस शिक्षा के माध्यम से हुआ है, जो हमारे सामाजिक जीवन से सम्बद्ध है। किन्तु हमारी शिक्षा स्व-अनुशासन पर आधारित नहीं है। यह आजीविका दिलाने वाली शिक्षा है, आत्म-विकास या स्व-सुधार कराने वाली नहीं। यहाँ तक कि हमारी बुद्धि भी इस जीविकोपार्जन-केन्द्रित शिक्षा का अनुसरण करती है। जिस दिन से आप विद्यालय जाना शुरू करते हैं, उसी दिन से पूर्व में ही निश्चित कर लिया जाता है कि भविष्य में आपको क्या बनना है, और आपको किस प्रकार की शिक्षा लेनी चाहिए। आत्मा

को पूर्णत: उपेक्षित कर दिया जाता है। मुझे आशा है आप मेरे इस विचार से सहमत होंगे।

व्यक्ति के मन, व्यवहार और विचारधारा में अनुशासन का अभाव है। यही बात भावना पर भी लागू होती है। हमारी भावनाएँ स्वार्थ से प्रेरित होती रहती हैं, और प्रियता एवं अप्रियता के रूप में व्यक्त होती हैं। जब ये व्यक्त होती हैं, तब क्या होता है? हमारे भीतर एक असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। यह असन्तुलन ही तनाव और परेशानी का कारण बनता है। और अन्तत: रोगों एवं व्याधियों को जन्म देता है। आप मेरी इस बात से भी सहमत होंगे कि आधुनिक समाज में कैंसर, मधुमेह और दमा इत्यादि जानलेवा बीमारियाँ नहीं हैं, बल्कि तनाव एवं परेशानियाँ ऐसी व्याधियाँ हैं, जो व्यक्ति की जान ले लेती हैं। शारीरिक रोग तो हमारे मन, व्यक्तित्व एवं प्रकृति में संचित तनाव एवं परेशानियों के ही परिणाम हैं।

तनाव की उत्पत्ति

अगर हम 'डिसीज़' शब्द को देखें, तो यह दो शब्दों से मिलकर बना है, 'डिस' और 'ईज़'। 'ईज़' का अर्थ होता है शरीर एवं मन की सुखदायक स्थिति। 'डिस' शब्द 'डिस्टरबेन्स' (रोग या अव्यवस्था) का संकेताक्षर है। शरीर एवं मन की सुखदायक स्थिति में व्यवधान ही व्याधि है। रोगों से, चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक, कौन मुक्त है? कोई नहीं। और रोग कैसे उत्पन्न होता है? जब हम अपने शारीरिक अंगों, मन, विचार, व्यवहार एवं कर्म की अभिव्यक्तियों में सही सामंजस्य नहीं रख पाते, तब रोग उत्पन्न होता है। मूल रूप से शरीर और मन की इस असन्तुलित अवस्था का अनुभव तनाव एवं परेशानी के रूप में होता है। यह अनुभव चेतन या अवचेतन हो सकता है। जब यह अचेतन बन जाता है, तब संस्कार कहलाता है। लोग कहते हैं, इसका संस्कार ऐसा है, इसीलिए यह ऐसा है। जब यह अनुभव चेतन बनता है तो हम अपनी जीवन-शैली में असन्तुलन के प्रति सजग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, सामान्य रूप से प्रशासनिक अधिकारी माइग्रेन, सरदर्द, कंधों में दर्द, स्पांडिलाइटिस, कमर दर्द, और कूल्हों के जोड़ों में कमजोरी इत्यादि से पीड़ित होते हैं। लोग इन रोगों को शारीरिक स्थिति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। जबकि योग कहता है कि तीन क्षेत्रों में तनाव संचित होता है। पहला क्षेत्र है स्नायु-संस्थान, दूसरा है मन, और तीसरा है पेशीय-तन्त्र।

सबसे पहले हम पेशीय तनाव की चर्चा करेंगे। यदि हम अपनी नित्यचर्या पर विचार करें, तो पाएँगे कि सुबह उठने के समय से रात को सोने तक हम अपनी मांसपेशियों और शरीरिक अंगों का उचित व्यायाम नहीं करते। सुबह से रात तक हम कभी सीधे नहीं बैठते, हमेशा झुककर बैठते हैं। यहाँ तक कि जब हम कुर्सी, बिस्तर या सोफे पर बैठते हैं, तब भी हमारा शरीर झुका रहता है। आजकल जो व्यायाम प्रचलित हैं, जैसे, जिम्नास्टिक, जॉगिंग इत्यादि, उनका मांसपेशियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और न ही वे शरीर की उन मांसपेशियों का व्यायाम करते हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी हैं। इसलिए अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त करने के हमारे सभी प्रयासों के बावजूद भी हम बीमार पड़ जाते हैं। मांसपेशीय तनावों को दूर करने के लिए योग आसनों का अभ्यास करने की सलाह देता है। मैं उन शारीरिक स्थितियों की बात नहीं कर रहा हूँ जो आप टेलिविजन में देखते हैं। वे तो बहुत कठिन होती हैं। शरीर पर नियंत्रण प्राप्त करने के पश्चात् जो अवस्था आती है, उसमें आप जिस शारीरिक अवस्था में रहिए, जिस आसन में रहिए, आपको स्थिरता, शान्ति और तनाव रहित अवस्था का अनुभव होगा।

यह तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त कर चुकने की अन्तिम अवस्था है। आसनों की शुरुआत ऐसे नहीं होती। आसनों की शुरुआत अत्यन्त सरल अभ्यासों से होती है, जो व्यक्ति को अपने प्रत्येक अंग-प्रत्यंग, पेशियों और जोड़ों के प्रति जागरूक बना देते हैं। सामान्यत: हम इनका प्रयोग सही ढंग से नहीं करते।

तनाव-निवृत्ति हेतु सरल योगासन

योगासनों के प्रारम्भिक अभ्यासों एवं जटिल शारीरिक स्थितियों में अन्तर को समझाने के लिए मैं आपको उदाहरणस्वरूप तीन आसनों का अभ्यास बताऊँगा। पहला है ताड़ासन। इस आसन में पैरों को आपस में सटाकर, हाथों की अंगुलियों को आपस में फँसाकर, हथेलियों को सिर के ऊपर उल्टा रखते हैं, फिर श्वास लेते हुए हाथों को ऊपर छत की ओर फैलाते हैं तथा शरीर को ऊपर की ओर तानते हैं। श्वास को भीतर रोककर पंजों पर खड़े होते हैं। फिर श्वास छोड़ते हुए नीचे आते हैं। इस आसन से पैरों के पंजों से मेरुदण्ड तक की प्रत्येक कशेरुका में तनाव और खिंचाव उत्पन्न होता है, जो शरीर की असुविधाजनक स्थिति और तनाव को दूर करने में सहायक होता है। जब शरीर के विभिन्न जोड़ों एवं मेरुदण्ड की कशेरुकाओं से तनाव दूर

हो जाता है, तो संतुलित रक्त-संचार होने एवं शरीर के विभिन्न संस्थानों से तनाव के दूर होने की संभावना बढ़ जाती है।

दूसरा अभ्यास है तिर्यक् ताड़ासन। पूरे दिन में यदा-कदा ही हम अपने शरीर की बगल की मांसपेशियों का विस्तार करते हैं। इस अभ्यास को करने के लिए हम पैरों को तीन फुट की दूरी पर रखते हैं। अंगुलियों को आपस में फँसाकर हाथों को छत की ओर तानते हैं। श्वास छोड़ते हुए शरीर को दायीं ओर झुकाते हैं, जिससे बायीं बगल की मांसपेशियों का पूर्ण विस्तार होता है और दायीं बगल की मांसपेशियाँ संकुचित होती हैं। श्वास लेते हुए पुनः प्रारम्भिक स्थिति में आते हैं। फिर श्वास छोड़ते हुए बायीं ओर झुकते हैं, जिससे दायीं बगल की मांसपेशियों का विस्तार और बायीं बगल की मांसपेशियों का संकुचन होता है। इस तरह यह अभ्यास बगल के पूरे पेशीय-तंत्र का विस्तार करता है। पेशीय-तंत्र का ही नहीं, अपितु अँतड़ियों तथा बगल में स्थित अन्य आन्तरिक अंगों का भी व्यायाम करता है। इस प्रकार मांसपेशियों और आन्तरिक अंगों का जो व्यायाम होता है, वह तनाव को कम कर देता है।

तीसरा अभ्यास है कटि चक्रासन। जिस प्रकार गीले कपड़े से पानी को निकालने के लिए उसे निचोड़ते हैं, उसी प्रकार शरीर को मोड़ते हैं जिससे सभी आंतरिक अंग निचुड़ जाते हैं। जिस प्रकार कमरे को साफ करने के लिए एक स्पंज को पानी में डुबाकर उससे पोछते हैं, जिससे गन्दगी स्पंज में आ जाती है। फिर स्पंज को साफ करने के लिए उसे पानी में डुबाकर निचोड़ते हैं। उसी प्रकार इस अभ्यास में शरीर को निचाड़ने की-सी जो प्रक्रिया होती है, वह रुके हुए रक्त को हटाकर उसके स्थान पर ताजे रक्त का संचार करती है। यह मृत कोशिकाओं को हटाकर कोशिकाओं में नवजीवन का संचार करने में भी सहायक होता है। इस अभ्यास के लिए पैरों को फैलाकर खड़े हो जाते हैं, हाथों को बगल में फैला देते हैं। श्वास छोड़ते हुए बायीं ओर मुड़कर दाहिने हाथ को बाएँ कन्धे पर, और बाएँ हाथ को पीछे की ओर ले जाकर कमर पर रखते हैं। इसके बाद फिर दूसरी तरफ इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं। इस प्रकार पूरे शरीर की मांसपेशियों और अंगों को दाहिनी और बायीं ओर मोड़ते हैं।

योग के प्रारम्भिक अभ्यासों के साथ भी वैज्ञानिक तथ्य जुड़े हुए हैं, जो बहुत व्यावहारिक हैं। आसनों की शुरुआत होती है शरीर से तनाव, कष्ट एवं दर्द को दूर करने से, जो हमारी नित्यचर्या के कारण संचित हो जाते हैं। चाहे दिन में शारीरिक स्थिति सही न होने के कारण हों या रात्रि में। बहुत बार सोने

के बाद जब हम सबेरे उठते हैं तो शरीर के किसी-न-किसी अंग में दर्द का अनुभव होता है। यह सोते समय शारीरिक स्थिति ठीक न होने के कारण होता है। आसनों के अभ्यास से इस तरह के मांसपेशीय तनाव से मुक्ति मिलती है।

प्राणायाम की भूमिका

तनाव का दूसरा क्षेत्र है स्नायु-संस्थान। इसका प्रभाव अनुकम्पी और परानुकम्पी स्नायु-संस्थान में दिखलाई देता है, और अन्ततः मस्तिष्क में पहुँच जाता है। चूँकि मस्तिष्क हमारे स्नायु-संस्थान का केन्द्र है, इसीलिए नाड़ियों के उद्‌दीपन एवं खिंचाव तथा दोनों स्नायु-संस्थानों में उत्तेजना का अनुभव मस्तिष्क में होता है। और हमें अनेक बार मस्तिष्क में थकान का अनुभव होता है।

कभी-कभी हमारे मस्तिष्क के भीतर इतनी उत्तेजना एवं आवेश उत्पन्न होते हैं, इतने उद्‌दीपन प्राप्त होते हैं कि वह थक जाता है। और फिर कुछ करने की इच्छा नहीं होती। आप चाहते हैं कि कुछ देर चुपचाप बैठकर आराम कर लें। सामान्य रूप से जब आप विश्राम करते हैं तो आपको वास्तविक आराम नहीं मिलता। जैसे एक रबर को खींचने से उसमें तनाव उत्पन्न होता है, और छोड़ देने से वह क्षण भर के लिए दूर हो जाता है। आपके शरीर संस्थान के भीतर तनाव के विभिन्न स्तरों के साथ-साथ ऊर्जा भी भिन्न स्तरों में विभक्त हो जाती है। हो सकता है शारीरिक रूप से आपको थोड़ा विश्राम मिल जाए, लेकिन स्फूर्ति का अभाव रहेगा, कमजोरी और थकान रहेगी। अतः स्नायु-संस्थान और मस्तिष्क के तनावों को कम करने के लिए योग प्राणायाम के अभ्यास का निर्देश करता है।

जब आपको तनाव का अनुभव हो रहा हो, यदि उस समय आप अपने शरीर को देखेंगे तो आपको तीन स्थानों पर कड़ेपन का अनुभव होगा। जब आप अपने बड़े अधिकारी के सामने जाते हैं तो आपका पेट कड़ा हो जाता है। यह सुखकारक स्थिति नहीं है, बल्कि तनावग्रस्त अवस्था है। जब आपके मन-मस्तिष्क में परेशानी रहती है, तब गर्दन कड़ी हो जाती है। यह दूसरा क्षेत्र है तनाव का। तीसरा है गुदाद्वार। तनाव की अवस्था में यह संकुचित हो जाता है।

इन तनावों को दूर करने के लिए योग में प्राणायामों की चर्चा की गयी है। प्राणायाम श्वास नियंत्रण के अभ्यास हैं। मानसिक अवस्था श्वास की गति

में परिलक्षित हो जाती है। यदि आप विश्रान्त और सुखकारक स्थिति में हैं, तो आपकी श्वास धीमी, गहरी और लम्बी होगी। यदि आप चिन्ताग्रस्त हैं तो श्वास उथली होगी। क्रोध एवं भय की अवस्था में हम जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं। निद्रा की अवस्था में श्वास लम्बी और गहरी होती है।

श्वास हमारी तात्कालिक मन:स्थिति को व्यक्त करती है। यह भी कहा जाता है कि श्वास नियंत्रण के द्वारा आप अपनी मन:स्थिति को परिवर्तित कर सकते हैं। यदि आप क्रुद्ध, निराश, तनावग्रस्त या चिन्ताग्रस्त हैं, तो कुछ क्षणों के लिए चुपचाप बैठ कर लम्बी और गहरी श्वास लें तथा छोड़ें। कुछ मिनटों के बाद ही आपकी मन:स्थिति आपके नियंत्रण में होगी और तनाव एवं परेशानियाँ भी दूर हो जाएँगी। आप क्रोध, विषाद एवं दबावों को नियंत्रित करने में सक्षम होंगे।

संसार के विभिन्न भागों में अनेक अनुसंधान किए गए हैं जो मन, मस्तिष्क एवं शरीर से तनाव और परेशानियों को दूर करने में प्राणायाम की महत्ता को प्रमाणित करते हैं। प्राणायाम केवल नासिकाओं से श्वास लेने और छोड़ने की विधि का प्रशिक्षण नहीं है, बल्कि इसका उद्‌देश्य है उन आवेगों, संप्रेषणों एवं पारस्परिक क्रियाओं में सामंजस्य लाना, जो आपके स्नायु संस्थान एवं मस्तिष्क; तथा मस्तिष्क एवं मन के बीच निरंतर होती रहती हैं।

प्राणायाम का एक अत्यन्त प्रभावकारी अभ्यास है भ्रामरी प्राणायाम। मैं आपको संपुट योग का अभ्यास बतला रहा हूँ ताकि यहाँ आने के पूर्व आप अपने शयन कक्ष या स्नानघर के शान्त वातावरण में इसका अभ्यास करें, और स्वयं के भीतर होने वाले परिवर्तनों को देखें। अभ्यास के लिए सबसे पहले दोनों कानों को तर्जनी अंगुलियों से बन्द कर लीजिए और मानसिक रूप से अपनी एकाग्रता को मस्तिष्क के मध्य बिन्दु पर केन्द्रित कीजिए। इस बिन्दु पर स्वयं को एकाग्र करते हुए नासिका से श्वास लीजिए और श्वास छोड़ते समय भ्रमर के समान गुंजन कीजिए। यह गुंजन समस्वर में होना चाहिए, इसमें उतार-चढ़ाव नहीं होना चाहिए। मात्र इतना अभ्यास आपको पाँच बार कर लेना है, और इस दौरान श्वास पर पूर्ण नियंत्रण होना आवश्यक है। चेतना को मस्तिष्क के मध्य में केन्द्रित करना आवश्यक है। इस अभ्यास के पश्चात् आप स्फूर्ति का अनुभव करेंगे। यह प्राणायाम का व्यावहारिक पक्ष है, जो शरीर के आन्तरिक तंत्र-तंत्रिकाओं को संतुलित करने में सहायक होता है।

स्वान सिद्धान्त

तीसरे प्रकार का तनाव है, मानसिक तनाव। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे, बच्चों की शिक्षा, घर-परिवार, मित्र, समाज, कार्य, महाविद्यालय इत्यादि से सम्बन्धित समस्याएँ। मानसिक तनाव को किस प्रकार दूर किया जाए? इसके लिए महर्षि पतंजलि ने राजयोग में अनेक अभ्यासों की चर्चा की है, जो विक्षिप्त मन:स्थिति को केन्द्रित करने में सहायक होते हैं। योग कहता है कि जब मन:शक्तियाँ बिखरी रहती हैं, तब वह मन की विक्षिप्त अवस्था है। जब वे शक्तियाँ नियंत्रण में रहती हैं, तब वह मन की एकाग्र अवस्था है। और जब वे केन्द्रित रहती हैं, तब वह मन की जाग्रत अवस्था कहलाती है।

अपनी मन:शक्तियों को सही, सृजनात्मक एवं सकारात्मक दिशा देने के लिए व्यक्ति को आत्मावलोकन की आवश्यकता होती है। यह ध्यान की अवस्था में स्वत: ही होता है। ध्यान का अर्थ है संसार से सम्बन्ध-विच्छेद, किन्तु साथ ही इसका अर्थ मानसिक सजगता भी है। जब आप अपनी सभी मन:स्थितियों के प्रति पूर्णत: जागरूक हो जाते हैं, तब वह ध्यान की अवस्था कहलाती है। ध्यान जीवन के सभी दु:खों का अन्त कर देता है।

जीवन में चार स्थितियाँ होती हैं। मैंने इन्हें 'स्वान' सिद्धान्त नाम दिया है। हमारे भीतर विद्यमान शक्ति या सामर्थ्य अर्थात् 'स्ट्रेन्थ' 'स्वान' का पहला अक्षर 'एस' है। सामर्थ्य के साथ-साथ हमारे भीतर कमजोरियाँ भी होती हैं, चाहे वह मन:शक्ति की कमी हो, सजगता की कमी हो, संकल्प-शक्ति की कमी हो, हीन भावना हो या भयग्रस्तता हो। कमजोरी को अंग्रेजी में 'वीकनेस' कहते हैं, और यह शब्द 'स्वान' के दूसरे अक्षर 'डब्लू' द्वारा परिलक्षित होता है।

तीसरा अक्षर है 'ए', जो अंग्रेजी शब्द 'एम्बीशन' का संकेताक्षर है। एम्बीशन का अर्थ होता है महत्त्वाकांक्षा। अर्थात् सुरक्षा प्राप्ति हेतु अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठने की इच्छा। नाम, यश और प्रतिष्ठा कमाने की इच्छा। हमारे भीतर अनेक उच्चाकांक्षाएँ हैं, जो हमारे जीवन के दिशा-निर्धारण में एक प्रभावी कारक हैं। अन्तिम अक्षर है 'एन', जो अंग्रेजी शब्द 'नीड' का संकेताक्षर है। 'नीड' का अर्थ होता है आवश्यकता। हमारी अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, सामाजिक एवं पारिवारिक।

हमारे भीतर जो मानसिक तनाव उत्पन्न होता है, वह वस्तुत: सामर्थ्य, कमजोरी, महत्त्वाकांक्षा और आवश्यकता से जनित होता है। यदि आप उचित एवं सही ढंग से इसका विश्लेषण करेंगे तो इसे एकदम सही पाएँगे। चाहे जो कामना हो, चाहे जो कर्म हो, चाहे जो कमजोरी हो, इन सब के संयोजन से मानसिक तनाव उत्पन्न होते हैं। इनके निराकरण के लिए योग में ध्यान-मार्ग बतलाया जाता है। ध्यान-मार्ग में आपको ईश्वर पर ध्यान करना आवश्यक नहीं है। वह तो बाद की चीज है। तत्काल अपने जीवन को संतुलित एवं व्यवस्थित करने के लिए जिसकी आवश्कयता है उसे कीजिए।

इस प्रकार योग व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करता है। योग का उद्देश्य होता है व्यक्ति की विभिन्न शक्तियों का संयोजन करना। यदि आपको कभी योगाभ्यास करने का अवसर मिले तो इसका प्रयोग आध्यात्मिक उत्थान के लिए नहीं, मानसिक अनुशासन, सजगता एवं आत्मनियंत्रण को प्राप्त करने के लिए करें। यदि आप इतना करने में सक्षम हैं, तो यही वास्तविक योग है। *अथ योगानुशासनम्* – योग शरीर, मन और मस्तिष्क का अनुशासन है। जब आप अपने मन, मस्तिष्क और शरीर की अभिव्यक्तियों को अनुशासित करने में सक्षम हो जाते हैं, तब मानसिक विक्षेप स्वत: समाप्त हो जाते हैं।



स्नेह, प्रेम, करुणा, भक्ति से कोमल करो प्राण

इस चतुर्दिवसीय योग सम्मेलन के दौरान हमने योग के अनेक अंगों की चर्चा की है, तथा इसकी विभिन्न शाखाओं के वैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों पर भी चर्चा की है। योग की बातें तो बहुत हो गयीं, अब आपके समक्ष मैं एक ऐसा विचार प्रस्तुत करने जा रहा हूँ जो योग के बाद आता है।

योग की ओर मनुष्य क्यों आता है? वह ध्यान हेतु क्यों यत्नशील रहता है? वह साधना क्यों करता है? इसका अन्तत: एक ही प्रयोजन रहता है–साक्षात्कार। प्रभु की निर्मल छवि को अपने जीवन में अवतरित करना, यही है योग का अन्तिम लक्ष्य।

हम आसन, प्राणायाम, जप एवं ध्यान करते हैं, और यह सब करते-करते एक उच्च चेतना का क्षणिक अनुभव भी करने लगते हैं। ऐसा भी होता है कि ध्यान करते-करते क्षणभर के लिए कोई झलक दिख जाती है, और उस क्षण आनन्द की अनुभूति जाग्रत हो उठती है या हम आत्म-विभोर हो जाते हैं, लेकिन फिर बाहर आना पड़ता है। लगता है आकाश से गिरे, खजूर में अटक गये।

ऐसा होता क्यों है? जब बाहर आ जाते हैं, तब लोग कह उठते हैं, 'भाई! हम तो संसार में रहते हैं। जब तक संसार में रहना है तब तक हमें सांसारिक व्यक्ति की तरह कर्म करना है, जीना है। कर्मों और संस्कारों का बन्धन है। इसलिए ऐसा तो होना ही है।' लेकिन अनेक प्रयत्नों के बाद भी हम पुन: उस अवस्था में स्वयं को प्रतिष्ठित नहीं कर पाते, क्योंकि हमारी तैयारी पूर्ण नहीं होती।

ईश्वर का हृदयस्थ सिंहासन

योग तो आपके लिए एक सुन्दर-सी कार तैयार कर देता है, जिसमें गियर भी है, ब्रेक भी है, एक्सीलेटर भी है, क्लच भी है और हैंड ब्रेक भी। कहने का मतलब सर्वांगयुक्त है कार। लेकिन योग एक काम आपके लिए भी छोड़ देता है। उस गाड़ी के अन्दर आप ही एक ऐसी गद्दी लगाएँ, जिसपर परमात्मा आसीन हो सकें। योग आपको सारे औजार दे देता है, सभी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करा देता है, लेकिन आसन तो आपको ही बनाना होता है।

इतने दिनों तक जो चर्चा हुई, उसमें आपको यह स्पष्ट समझ में आ गया होगा कि शरीर के माध्यम से ही परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। और इस माध्यम द्वारा योग की विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करते हुए हम समाधि तक पहुँच जाते हैं। समाधि की अवस्था में क्या होगा? ध्यान की अवस्था में क्या होगा? ध्यान और समाधि में शून्य या प्रकाश का अनुभव नहीं, परमात्मा का अनुभव होना चाहिए। अगर शून्य का अनुभव होता है तो वह वास्तविक नहीं है। वह तो एक अवस्था है।

समाधि की चर्चा करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि समाधियाँ तो कुछ ही प्रकार की होती हैं, लेकिन उनके बीच संक्रमण बिन्दु अनेक होते हैं। कार की गियर प्रणाली में भी यही तो होता है। आप एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, और तीसरे से चौथे में जाते हैं। लेकिन एक से दूसरे में जाने के पहले न्यूट्रल में आना पड़ता है, दूसरे से तीसरे में जाने के लिए पुनः न्यूट्रल में आना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक बार न्यूट्रल की सीमा को पार करना पड़ता है। यह न्यूट्रल की अवस्था ही शून्यावस्था है। इसी को योगियों ने सबीज अवस्था के रूप में समझाया है। सबीज का न्यूट्रल हो जाता है निर्बीज। इसी तरह सविकल्प अवस्था है समाधि की। सविकल्प का न्यूट्रल हो जाता है निर्विकल्प। इस प्रकार निष्क्रिय अवस्था तो आती ही है। इस निष्क्रिय अवस्था से गुजरने को हम शून्यावस्था मानते हैं, जहाँ पर चेतना कुछ क्षणों के लिए लुप्त हो जाती है। समाधि तो प्रकाश की स्थिति है, जब तक प्रकाश है तब तक नाम-रूप-गुण का बोध होता है।

प्रकाश के ही कारण हम एक-दूसरे को देख पाते हैं। हमने किस प्रकार के वस्त्र पहने हैं, उनका क्या रंग है, इसे देख सकते हैं। अगर अन्धकार हो जाए तो क्या होगा? सब रंग जहाँ के तहाँ एक ही रंग में विलीन हो जायेंगे। शून्यावस्था को, जहाँ सभी चीजों का अभाव हो जाता है, प्राप्ति की अवस्था

कभी नहीं मानना। वहाँ तो अभाव है, और यह अभाव उत्पन्न होता है जब हम एक चरण से दूसरे चरण में, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रवेश करते हैं। धीरे-धीरे इस प्रक्रिया को अपनाकर हम निर्विचार और अहम् रहित हो जाते हैं। हमारी पूरी तैयारी हो जाती है। लेकिन अभी तो मात्र हमने अपने आपको तैयार किया है, ईश्वर का आह्वान नहीं किया। समाधि में ईश्वर दर्शन नहीं होता। महासमाधि में भी ईश्वर दर्शन नहीं होता, क्योंकि समाधि, या ध्यान, या जो भी आप कहें, ये सब तो चेतना के विभिन्न आयामों से गुजरने की विभिन्न स्थितियाँ हैं। जब हम चेतना के विभिन्न आयामों से गुजर रहे होते हैं, तब हमारा सम्बन्ध चेतना के किसी अंश से जुड़ा ही रहता है। और जब तक यह सम्बन्ध जुड़ा रहेगा, तब तक ईश्वर कैसे अवतरित हो पाएँगे? सम्भव नहीं है।

अत: योग के बाद एक दूसरी अवस्था आती है जिसमें साधक को स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है। वह पुरुषार्थ है प्रभु के लिए एक आसन का निर्माण। जो आसन हम प्रभु के लिए तैयार करते हैं, उसके पाँव किस प्रकार के होते हैं? अभी आपने भजन में सुना कि प्रभु राम ने केवट को प्रेम और भक्ति का वरदान दिया। प्रेम और भक्ति दो पाँव हुए उस आसन के। लेकिन दो पायों के आसन पर बैठना सम्भव नहीं है, दो और की आवश्यकता होती है, जिन्हें स्नेह और करुणा कहते हैं। प्रेम, भक्ति, स्नेह और करुणा – ये योग के बाद की अवस्थाएँ हैं। मनोवैज्ञानिक विधि से समाधि को प्राप्त करने के बाद की स्थितियाँ हैं।

प्राणों की कोमलता

समाधि की अवस्था में पहुँचकर अगर आप इन चारों को अपने जीवन में अवतरित नहीं कर सकते, तो फिर समाधि किस काम की? स्नेह को धारण करना है, पर यह आसक्ति रहित होना चाहिए। इसमें स्वार्थ नहीं होना चाहिए। प्रेम और करुणा को धारण करना है, पर इनमें भी आसक्ति और स्वार्थ नहीं होना चाहिए। जब आप इन चारों को शुद्ध रूप में अपने जीवन में स्थान देते हैं, तब वह आसन बनता है जिसका नाम है – कोमल प्राण।

स्नेह, प्रेम, करुणा, भक्ति से कोमल करो प्राण।

हमारे प्राण तो कठोर हैं। अभी हम प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के सम्बन्ध में नहीं बोल रहे हैं। प्राण वह तत्त्व है जो कण-कण में विद्यमान

है। कठोर और कोमल प्राण का एक उदाहरण आपको देता हूँ। मान लीजिए एक दुर्घटना होती है, जिसमें आपका पुत्र और एक अन्य व्यक्ति घायल हो जाते हैं। आप किसके प्रति कोमलता का अनुभव करेंगे? हो सकता है करुणा दोनों के प्रति हो, लेकिन चिंता और विचार अपने पुत्र के लिए अधिक रहेगा। पुत्र के प्रति रहती है कोमल प्राण की स्थिति, और दूसरे के प्रति रहती है कठोर प्राण की स्थिति। अर्थात् हमारी संवेदनाएँ और भावनाएँ जिसके साथ जुड़ती हैं, उसके प्रति कोमल हो जाती हैं।

क्या आप अपने प्राणों को कोमल कर सकते हैं? कहने को तो आप कह सकते हैं कि हाँ, कर सकता हूँ, लेकिन यह बहुत कठिन है। कहने और करने में बहुत अन्तर है। गरीबी के बारे में हर व्यक्ति कहता है कि इसका निवारण होना चाहिए, लेकिन कोई गरीब की तरह जीया है? जो उस तरह जीया नहीं, जो उसके दु:ख और कष्ट को जानता नहीं, वह गरीबी के बारे में क्या बोलेगा? उसकी तरह एक बार रहकर देखिए। शरीर को ढकने के लिए उसके पास वस्त्र नहीं, चिथड़े पहनता है। ठण्ढ में वही चिथड़े रजाई का काम करते हैं। और जब वह चिथड़ों को धोता है, तब उसके पास शरीर को ढकने के लिए कोई दूसरा वस्त्र नहीं रहता। और हम रोज-रोज दुकान में जाकर नये-नये वस्त्र खरीदते हैं। जो पुराना हो जाता है उसे फेंक देते हैं, क्योंकि हमारे काम का तो रहता नहीं। यह तो जीवन है हमलोगों का, और बात करते हैं गरीबी हटाने की।

उनके पास तो मकान भी नहीं रहता, बरसात में टूटे छप्पर से पानी चूता है। ठण्ढ में वे ठिठुरते रहते हैं। यह जीवन हम अभी देख रहे हैं, क्योंकि जहाँ पर हमारे परमपूज्य गुरुदेव रहते हैं, वह एक पिछड़ा हुआ इलाका है। वहाँ पर लोगों के पास कुछ नहीं है। वे एकदम निर्धन हैं। उनकी जिन्दगी हम देखते हैं, क्योंकि उनकी सहायता करने, उनके लिये मकान बनवाने, उन्हें वस्त्र देने, और उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करने के लिए वहाँ जाते हैं। जब उनके साथ एक-दो घंटे रहने का मौका मिलता है तो हम सोचते हैं कि मनुष्य जो कहता है, उसमें और वास्तविकता में कितना अन्तर है।

रिखिया में सेवा कार्य

गुरुजी ने हमें यही शिक्षा दी कि योग का कार्य तो करो ही, लेकिन योग साधना के साथ-साथ स्वयं की साधना को सिद्ध करते हुए अपने प्राणों को भी कोमल

करो। और एक सार्वभौमिक दृष्टि को अपनाकर, दु:खियों और दरिद्रों की सहायता करो। इसके निमित्त गुरुदेव ने हमें अवसर भी दिया, साधन और माध्यम भी दिए। बिहार योग विद्यालय से क्षेत्र-संन्यास लेने के पूर्व उन्होंने शिवानन्द मठ नामक संस्था की स्थापना की थी। यह संस्था उनके गुरु की स्मृति को समर्पित है। यह परोपकारी दातव्य संस्था है। आपके अनुदान से हम शिवानन्द मठ के माध्यम से गरीबों को मकान बनाकर देते हैं। उनके लिए चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं।

गुरुजी का जीवन ईश्वर के आदेश पर चलता है। आप उनके जीवन को देखेंगे तो उसमें हर क्षण कोई-न-कोई प्रेरक चीज जरूर दिखायी देगा, जिसने उनकी विचारधारा और लक्ष्य को नया रूप दिया। और यह नया रूप समाज के उत्थान में सहायक सिद्ध हो रहा है। एक दिन साधना से उठने के पश्चात् उन्होंने हमें बुलाकर कहा, 'मुझे आदेश हुआ है कि तुम अपने पड़ोसियों को वही सुविधा प्रदान करो जो मैंने तुम्हें प्रदान की है। यह आदेश हुआ है ऊपर से, मैं तो सब चीजें छोड़ चुका हूँ, लेकिन चाहता हूँ कि तुम ईश्वर के इस संकल्प को पूरा करो।' उस दिन से हमने संकल्प किया – स्नेह, प्रेम, करुणा, भक्ति से कोमल करो प्राण।

योग को सिद्ध करने के लिए यह करना आवश्यक है। उन्हीं के आदेश का पालन करते हुए अनेक संन्यासी जी-जान लगाकर, अनेक सहयोगी अपने सामर्थ्य के अनुसार दान देकर इस संकल्प को पूरा करने में जुटे हुए हैं। सर्दी के मौसम में चारों तरफ से दान में कम्बल आए। किसी ने वस्त्र भेजे, किसी ने जूते, किसी ने स्वेटर। अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार सब भेजते गए। एक महीने के भीतर ही किसी को कम्बल मिला, किसी को वस्त्र, किसी को और कुछ।

जब तक इन भावों को हम धारण नहीं करते, तब तक दीन-दरिद्रों की आवश्यकताओं और भावनाओं को नहीं समझ सकते, और उनकी सहायता नहीं कर सकते। जो गरीब ठण्ढ में ठिठुर रहा है, उसे हम क्या कहेंगे – योग करो, और भगवान् का दर्शन करो! जिसके पास तन ढकने को वस्त्र नहीं, तीन दिन से घर में चूल्हा नहीं जला, खाना नहीं पका, उसे क्या हम कहेंगे कि योग करो! नहीं, उसे यह कतई नहीं कह सकते कि तुम आसन करो, प्राणायाम करो, ध्यान करो। उसकी सहायता करनी होती है। सेवा ही वह माध्यम है, जो समाधि के बाद हृदय के भीतर इस प्रकार के आसन को तैयार करता है।

सेवा के माध्यम से ऐसे स्नेह की जागृति होती है जो सार्वभौमिक होता है। सेवा के माध्यम से करुणा की भावना जाग्रत होती है, जो सार्वभौमिक होती है। सेवा के माध्यम से भक्ति जाग्रत होती है जो सार्वभौमिक होती है। रामायण में तो कहा गया है– 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'। यह भी कहा गया है– 'सियाराममय सब जग जानी'। लेकिन यह विचारात्मक स्तर तक ही रह जाता है। ठीक है, जान लिया, लेकिन उसके बाद फिर क्या? जो राम दरिद्र है, उसे दरिद्र रहने दें? क्या उससे आत्मीयता का भाव नहीं हो सकता? जो राम भूख से तड़प रहा है, क्या उसे भूखे मरने दें? अगर समाधि का यही परिणाम है कि वह आपको आपके परिसर से अलग कर दे, तो वह समाधि नहीं हो सकती। अगर ईश्वर-साक्षात्कार के क्रम में अपने आपको समाज से अलग कर लेते हैं, तो यह अनुचित है। प्राणों को कोमल करना है। और जब ऐसा आसन हमारे अन्दर बनता है तो उस पर छत्र लगता है ईश्वर की कृपा का।

स्नेह, प्रेम, करुणा और भक्ति पाँव हैं, आसन है कोमल प्राण, और छत्र है कृपा। जब इस प्रकार का आसन तैयार हो जाता है, तभी ईश्वर हृदय में उतरते हैं, और उस आसन को ग्रहण करते हैं। तब जाकर मनुष्य का जीवन सार्थक, सिद्ध और पूर्ण होता है। उस समय न समाधि की इच्छा रहती है न प्रकाश-दर्शन की। जब प्रभु साक्षात् हमारे भीतर अवतरित हो जाते हैं, फिर कौन-सी इच्छा रहेगी?

वास्तविक चमत्कार

मैं आपको एक बात बताना चाहूँगा। चमत्कार किसे कहते हैं? सामान्य भाषा में चमत्कार उसे कहते हैं कि हम मन्दिर में ईश्वर के समक्ष जाएँ, और उनसे प्रार्थना करें कि हमें यह कष्ट है, इसे दूर कर दो। कष्ट दूर हो जाता है, समस्या समाप्त हो जाती है, और हम कहते हैं, 'चमत्कार हो गया! भगवान् की कृपा-वृष्टि हो गयी, उनका आशीष हमें प्राप्त हुआ है।' यह अनुचित है। आपने अपनी इच्छा को भगवान् के ऊपर लादकर क्या उन्हें अपना नौकर बना रखा है? वास्तविक चमत्कार उसे कहते हैं जब आप ईश्वर की इच्छा को धारण कर उसी के अनुसार चलते हैं। एक बंगाली गीत के बोल हैं– 'आमी यन्त्र तुमि यन्त्री।' सन्त अगस्तीन कहा करते थे, 'मुझे अपने प्रेम का माध्यम बनाओ। जहाँ कलह हो वहाँ मुझे प्रेम के बीज बोने दो। मुझे अपना यन्त्र बनाओ। जिस भी तरह मेरा प्रयोग करना चाहते हो, उस प्रकार करो।'

लेकिन हम लोग भगवान् को अपना यन्त्र बनाना चाहते हैं। उन्हें अपने पॉकेट में रखना चाहते हैं। और जरूरत पड़ने पर कहते हैं, 'भगवान् मुझे यह कष्ट हो गया, इसे दूर करो।' इस प्रकार की मानसिकता से भला क्या हो सकता है? क्या आप सोचते हैं कि ईश्वर आपके जीवन में नौकर बन कर उतरेंगे? या दास बनकर आएँगे? इसलिए यह याद रखना कि साधना की पूर्णाहुति तभी होती है, जब आप साधना को सेवा में परिणत कर सकें। जब तक आप साधना को सेवा में नहीं बदलते, जब तक अपना हृदय कोमल नहीं करते, तब तक सभी प्रकार के दर्शन, विचारधाराएँ और मान्यताएँ, सभी प्रकार की बौद्धिक एवं मानसिक अवस्थाएँ एवं अनुभूतियाँ बेकार हैं।

'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखन देखी।' हो सकता है आप में से कुछ लोगों को कभी-न-कभी, किसी-न-किसी प्रकार की उच्च अनुभूति हुई होगी। परन्तु वह मात्र एक घटना बन कर रह गयी। स्मृति में अंकित हो गयी। क्या दर्शन के बाद आपके भीतर दूसरों के प्रति करुणा जाग्रत हुई? नहीं। क्या आपके भीतर सार्वभौमिक चेतना का उदय हुआ? क्या आप स्वार्थ की संकीर्णता से दूर हुए? नहीं हो पाए हैं। जब यह नहीं हुआ तो दर्शन का क्या फायदा? नदी में नहाने के लिए जाओगे, तो सूखे नहीं रह सकोगे। पूरा शरीर गीला होगा। शरीर पर जो वस्त्र पहने हुए हैं, वे भी गीले हो जाते हैं। जल तत्त्व सभी को गीला कर देता है। अगर एक क्षण के लिए भी ईश्वर का दर्शन हो जाए तो आप आप नहीं रहेंगे। इस बात को याद रखना। एक क्षण के लिए भी ईश्वर का अनुभव हो जाए, साक्षात् नहीं, मानसिक ही सही; मानसिक नहीं, विचारात्मक ही सही, वह आपको अवश्य परिवर्तित कर देगा।

रेडियो को ट्यून करते हैं, कभी कोई स्टेशन पकड़ में आता है, कभी कोई। लेकिन जब एक स्टेशन पकड़ में आता है तो उस स्टेशन में होते हुए कार्यक्रम को हम सुन सकते हैं। चाहे वह दूर का स्टेशन हो या समीप का। हो सकता है स्पष्ट न हो, लेकिन स्टेशन में क्या कार्यक्रम चल रहा है यह मालूम पड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार जब किसी अनुभव से हमारा तार जुड़ जाता है, चाहे वह वैचारिक ही क्यों न हो, तो ईश्वर का वह अनुभव पूरे जीवन को बदल देता है।

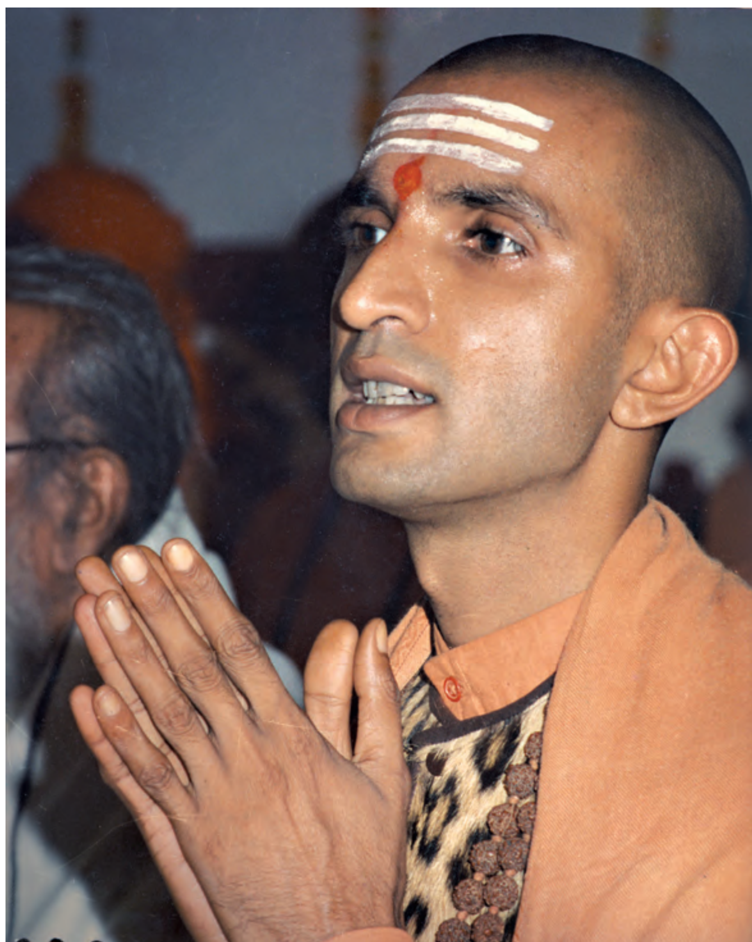
आप कहेंगे कि ईश्वर का अनुभव तो केवल भावना, बुद्धि या कर्म से होगा। ये तीनों माध्यम अवश्य बनते हैं, लेकिन ये आप तक ही सीमित नहीं

रहते। और इसे आप तक सीमित रहना भी नहीं चाहिए, अगर ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करना है। बहुत लोग तो ऐसा भी सोचते हैं कि ईश्वर तो दूर की चीज है, चलो, हम अपने गुरु को ही पकड़ें। जिस प्रकार आप गुरु का प्रयोग करते हैं अपने तरीके से, अपने स्वार्थ के लिए, उसी प्रकार गुरु भी अपने तरीके से आपको तैयार करता है, उस उच्च अनुभूति के लिए। धीरे-धीरे वह चाबी घुमाता है। कभी सालों लग जाते हैं, कभी जन्म-जन्मातरों का चक्कर हो जाता है, लेकिन गुरु उस कार्य को छोड़ता नहीं। वह आपकी चाबी घुमाता रहता है, और आप भी उसकी चाबी घुमाते रहते हैं। कभी उसकी चाबी घुमाकर उसे हकीम बना देते हैं, और कभी गधा बना देते हैं कि मेरा सारा बोझ तुम्हीं लेकर चलो। कभी उसे विद्वान् बना देते हैं कि तुम्ही हमें ज्ञान दो। कभी उसे पीर, भिस्ती, बावर्ची या खर बना देते हैं। कहते हैं, तुम जो कहोगे, हम वही करेंगे। खाना बनाओ तुम, खाएँगे हम।

सामान्य जीवन में तो हम गुरु का प्रयोग कर रहे हैं अपने लिए। इस भावना को क्या आप बदल सकते हैं? हाँ, जरूर बदल सकते हैं। जब आप योग में आरूढ़ हो जाएँ, योग में सिद्ध हो जाएँ तब। योग की पूर्णाहुति समाधि में नहीं, सेवा में होती है। पूर्णाहुति तभी होगी जब आप हर प्राणी के प्रति अपनत्व की भावना को जाग्रत कर लेंगे। योग का मतलब यही होता है। योग का मतलब अपने आपको दूसरों से हटाना नहीं, बल्कि जोड़ना है। इस बात को कभी मत भूलिए। आप अपना जो जोड़ना है सो जोड़िए, लेकिन साथ-ही-साथ दूसरों के साथ भी इस प्रकार जुड़िए जैसे आप खुद के साथ जुड़े हुए हैं। जिस सुख, शान्ति, समृद्धि और आनन्द की कामना आप अपने लिए करते हैं, वही दूसरों के लिए भी कीजिए। तभी आप साधक बनेंगे।

हो सके तो किसी चीज को फेंकना नहीं, जमा करते जाना, और साल में एक बार हमें भेज देना। वह फटा हुआ चिथड़ा ही क्यों न हो, बहुत काम आता है। और वही आपका योगदान रहेगा स्वयं के प्रति, दूसरों के लिए नहीं। यह मत सोचिएगा कि हमने बहुत बड़ा काम कर दिया वहाँ पर यह सब भेज कर। इससे आपका हृदय कोमल बनेगा। दूसरों के प्रति अपनत्व की भावना जागेगी। दूसरों के प्रति स्नेह जाग्रत होगा। ईश्वर के प्रति भक्ति जाग्रत होगी। तभी ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। यही योग का संदेश है—समाधि में रुकना नहीं, ध्यान को अन्तिम नहीं मानना, मात्र आसन और प्राणायाम को अपना लक्ष्य नहीं बनाना।

अपने कष्टों से मुक्ति पाना तो ठीक है, लेकिन दूसरों के कष्टों को दूर करना भी हमारा कर्त्तव्य और धर्म है, क्योंकि जिस सार्वभौमिक चेतना की हम खोज कर रहे हैं, जिस सत्ता को हम अपने जीवन में प्राप्त करना चाहते हैं, जिस देवता का अनुभव हम पाना चाहते हैं, वह तो कण-कण में विद्यमान है। अगर दूसरा व्यक्ति किसी कारणवश उस तत्त्व को नहीं पहचान पाता, तो उस तत्त्व की पहचान करवाना भी आपका कर्त्तव्य होता है। यह सब सेवा के द्वारा ही सम्भव है। अत: यह अन्तिम सन्देश हम आपको देते हैं – 'सेवा'।



नोट

नोट

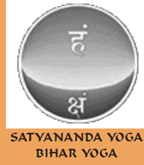
नोट



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'योगाभ्यास गिने-चुने व्यक्तियों के लिए नहीं, सभी के लिए है। योगाभ्यास तो आज की सामाजिक आवश्यकता है। मानव-जीवन में इसकी आवश्यकता आज उतनी ही है, जितनी सुख, समृद्धि एवं शान्ति की। योग मनोविज्ञान ही नहीं, आत्मविज्ञान भी है, जिससे सभी प्रकार के तनाव, क्लेश और दुःख समाप्त हो जाते हैं। जीवन के टूटे हुए तार योग के अभ्यास से जुड़ जाते हैं और पूर्णता का अनुभव होने लगता है। योग-मार्ग में आगे बढ़ने के लिए कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, योग में केवल पाना-ही-पाना है।'

श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने वर्षों पूर्व भविष्यवाणी की थी – 'योग विश्व की संस्कृति बनेगा' और इस हेतु योग के व्यापक प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया था। इस संकल्प की पूर्ति हेतु उनके परमशिष्य, स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती द्वारे-द्वारे तीरे-तीरे योग की अलख जगाते फिर रहे हैं। इसी क्रम में वर्ष 1993 एवं 1994 में सिद्धिदात्री नर्मदा के तट पर स्थित संस्कारधानी जबलपुर में वहाँ के योग प्रेमियों ने अखिल भारतीय योग सम्मेलनों का आयोजन किया, ताकि अधिकाधिक लोग अपनी इस प्राचीन विद्या और भावी संस्कृति की महत्ता को जानें, समझें और अपने जीवन में उतारने की प्रेरणा प्राप्त करें।

इन सम्मेलनों में स्वामीजी ने योग के विभिन्न पक्षों पर बड़े भावपूर्ण, ओजस्वी एवं प्रेरक प्रवचन दिये और दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता समझाकर जनमानस का आह्वान किया कि वे इसे अपने जीवन में अवश्य स्थान दें। विद्यार्थी, गृहस्थ, जिज्ञासु अथवा साधक – यह ग्रन्थ सभी के लिए समान रूप से अनुशीलन करने योग्य है।



ISBN :978-93-81620-58-8